UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186459

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—24—4-4-69—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H500 R96S Accession No. H4204

Author रसल, बर्ट्रेण्ड

Title समाजपर विज्ञान का प्रभाव अनु

This book should be returned on or before the date last marked

चन्द्र दत्त पाण्डेय

समाज पर विज्ञान का प्रभाव

लेखक :
बर्ट्रेण्ड रसल
अनुवादक :
चन्द्र दत्त पाण्डेय

विन्ध्याचल प्रकाशन
छतरपुर (म. प्र.)

जार्ज एलन एंड अनविन, लंडन के साथ हुए समझौते के आधार पर

प्रकाशक :
महेन्द्र कुमार 'मानव'
विन्ध्याचल प्रकाशन
छतरपुर (म. प्र.)

●

प्रथम संस्करण
मूल्य : ३.५०

●

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–१

भूमिका

बर्ट्रेण्ड रसल की भांति भाग्यशाली बहुत कम व्यक्ति होते हैं। प्रखर बुद्धि के साथ साथ जो पैतृक-वैभव उत्तराधिकार के रूप में उन्हें प्राप्त हुआ उससे अनेकों को ईर्ष्या होगी। किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी रसल को ख्याति बहुत देर से प्राप्त हुई।

उनका जन्म १८ मई १८७२ को हुआ। १९३१ में उन्हें अपनी पैतृक 'अर्ल' की उपाधि प्राप्त हुई और वे तीसरे लार्ड रसल के नाम से प्रतिष्ठित हुए। उनके पितामहों में एक महारानी विक्टोरिया के युग में ह्विग प्रधान-मंत्री लॉर्ड जौन रसल ने और दूसरे लॉड स्टानले ने पर्याप्त प्रसिद्धि पायी।

उनको बाल्यकाल से ही संघर्षमय जीवन का अनुभव हुआ। तीन वर्ष की अवस्था में वे मातृ-पितृ विहीन हो गये और सरकारी संरक्षण में उनका धर्मानुकूल शिक्षा एवं पालन पोषण हुआ।

१८९० में वे छात्र बनकर कैम्ब्रिज के ट्रिनिटी महाविद्यालय में प्रविष्ट हुए। अपने ऐकान्तिक शिक्षण के फल स्वरूप उनके स्वभाव में अत्यन्त एकान्तप्रियता दिखाई देती थी। लेकिन शीघ्र ही गणित और दर्शन में उनकी प्रखर प्रतिभा प्रकट होने लगी। १८९५ में वे ट्रिनिटी कॉलेज के 'फेलो' बन गये।

कुछ समय पेरिस के ब्रिटिश दूतावास में बिताने के बाद वे गणित सम्बन्धी शोध-कार्य में लग गये। उनका प्रथम महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'गणित के सिद्धान्त' १९०३ में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में उनकी मौलिकता स्पष्ट ही दिखाई दी। इस प्रकाशन के बाद कुछ वर्षों तक अपने मित्र अलफ्रेड ह्वाइटहेड के साथ काम करते हुए उन्होंने गणित की आधारभूत समस्याओं की एक स्मरणीय व्याख्या की। यह व्याख्या १९१० में प्रकाशित हुई। इस शताब्दी में

गणित पर लिखा हुआ यह सर्वोपरि महत्व का ग्रंथ था और इसने रसल को आधुनिक विचारकों की प्रथम पंक्ति मे बिठा दिया।

१९१४–१८ के प्रथम विश्व युद्ध ने रसल के जीवन पर विषाद की छाया डाल दी। उनकी तार्किक बुद्धि जब युद्ध के भयानक ज्वर के प्रभाव से अछूती रही तो प्रशासनिक अधिकारियों को आश्चर्य हुआ। धर्म की आड लेकर वे युद्ध का विरोध करते तो बात दूसरी थी किन्तु उनके धार्मिक विश्वासों को तो किसी प्रकार भी उग्र नहीं कहा जा सकता था। फिर भी उन्होंने शान्तिवादी के नाते सेना मे भरती का प्रबल विरोध किया और एक देशद्रोही के रूप मे उनकी कुख्याति हुई। युद्ध नीति की कटु आलोचना करने पर उन पर जुर्माना किया गया, उनका पुस्तकालय जब्त कर दिया गया और विश्वविद्यालय मे व्याख्याता के कार्य से भी उन्हे हटा दिया गया। यही नही, उन्हे अमेरिका मे नौकरी करने से भी रोक दिया गया। उनके प्रबल तर्क और प्रतिभा से उनके देशवासियों का क्रोध और भी भड़क उठा। अन्त मे १९१८ मे एक लेख लिखने के कारण उन्हे छह मास के कारावास का दण्ड मिला।

युद्ध की समाप्ति पर भी मुसीबतों के बादल दूर नही हुए क्योंकि उन्होंने युद्ध पर करारी चोटें की थी। उन्होंने रूस की यात्रा भी की और चीन में पेकिंग विश्वविद्यालय मे व्याख्यान दिये। लन्दन वापिस आने पर उन्होंने व्याख्याता का कार्य फिर प्रारम्भ किया लेकिन अधिकांश समय गंभीर दार्शनिक चिन्तन को साधारण पाठक तक पहुंचाने के लिए ग्रन्थ लिखने मे बिताया। उनके इन लोकप्रिय ग्रन्थों मे 'शिक्षा' पर १९२६ मे लिखा हुआ ग्रन्थ आज भी पर्याप्त प्रसिद्ध है। १९२६ और १९३० के बीच उनके दर्शन शास्त्र पर अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए जिनमे मुख्य 'पदार्थ का विश्लेषण', 'दर्शन शास्त्र की रूपरेखा' तथा 'रहस्यवाद और न्याय शास्त्र' थे। १९२७ से पांच वर्ष तक बर्टेन्ड रसल और उनकी पत्नी प्रगतिशील सहशिक्षा के सिद्धान्तों पर अपना एक विद्यालय चलाते रहे।

द्वितीय विश्व युद्ध के वर्षों मे, १९३९ से १९४५ तक, बर्टेन्ड रसल

संयुक्त राज्य अमेरिका में रहे। उनके ग्रन्थों को सर्वत्र विद्वानों से आदर प्राप्त हुआ लेकिन अपने स्वयं के विवाहित जीवन के वाद-विवाद के कारण संयुक्त राज्य में उनकी कटु आलोचना भी हुई। युद्धोपरान्त उनकी प्रतिभा सबको स्वीकार करनी पड़ी। उन्हें साहित्य का नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ और अपने देश में भी उन्हें 'आर्डर ऑफ मेरिट' से सम्मानित किया गया। उनका ग्रन्थ 'पाश्चात्य दर्शन का इतिहास' इस युग का एक अति श्रेष्ठ ग्रन्थ माना गया। ब्रिटेन के रेडियो प्रसारण निगम ने अपनी प्रथम 'रीथ भाषणमाला' के लिए उन्हें आमंत्रित किया। अब वे वास्तव में अपने युग के महान् दार्शनिक व्याख्याकार के रूप में गिने जाने लगे। सर्वप्रथम वे हमारे युग के महान् गणितशास्त्रियों की पंक्ति में स्थान पाते है। विचारों के इतिहास में उनका गणितीय विश्लेषण पर लिखा हुआ ग्रन्थ ही उनकी ख्याति के लिए पर्याप्त है। कुछ स्वयं सिद्ध तथ्यों को लेकर, विशुद्ध तर्क के सहारे उन्होंने गणित शास्त्र का विशाल भव्य भवन खड़ा कर दिया है।

दार्शनिक के रूप में भी रसल का स्थान कम महत्व का नहीं है। दर्शन के विश्लेषण में भी उन्होंने करीब करीब गणित की ही प्रविधि अपनाई है। कुछ ही वर्ष पूर्व उन्होंने जब हमारे युग के बड़े बड़े आन्दोलनों पर विचार प्रारम्भ किया तब समाज-विज्ञान में मानव के व्यक्तित्व की ओर उनका ध्यान गया। फिर भी मुख्य रूप से रसल की प्रणाली विशुद्ध तर्क पर आधारित है। तार्किक विश्लेषण को अन्तिम सीमा तक ले जाने वाला दर्शन शास्त्र ही दृढ आधार पर स्थित कहा जा सकता है। इस प्रकार हम देखते है कि उनके गणित विज्ञान और दर्शन में एकरूपता है। कभी-कभी उन्हें अपने निष्कर्षों को बदलने की आवश्यकता भी पड़ी। इसका कारण केवल यही था कि उन्होंने अपने तर्क को और अधिक माँज कर प्रखर बना उसका इस्तेमाल किया। उनकी प्रारम्भिक कृतियों से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे परिणाम के प्रति सर्वथा उदासीन हैं, उनका एक मात्र ध्येय यह है कि उनका तर्क पर आधारित भवन दृढता से अपने स्थान पर अडिग रह सके। उन्होंने लीबनिज की प्रणाली अपनाई यद्यपि वे उसके कठोर आलोचक भी थे। १९४७

में जब उनका ग्रन्थ 'पाश्चात्य दर्शन का इतिहास' प्रकाशित हुआ, तब उसमें उनका अधिक विकसित दृष्टिकोण एवं दूसरे विचारकों के प्रति अधिक सहानुभूति स्पष्ट ही दिखाई दी।

रसल का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य है विज्ञान और दर्शन के विचारों को लोकप्रिय बनाना। सरल भाषा में उन्होंने अपनी पीढ़ी को अत्यन्त बहुमूल्य ग्रन्थ प्रदान किये हैं। उन्होंने बड़ी क्षमता से विशेषज्ञों के विचारों की विशेषज्ञों के लिए व्याख्या की है।

संभवतः रसल की कीर्ति को बहुत समय तक जीवित रखने वाला उनका चौथा कार्य है :—उन्होंने विशेषज्ञों के ज्ञान को सुन्दर सरल भाषा द्वारा सामान्य पाठक के लिए सुलभ बनाया है। पिछले कई वर्षों से वे विज्ञान की उपलब्धियों और परिणामों की जन साधारण के लिए व्याख्या करते आये हैं। आधुनिक जीवन की अस्पष्ट जटिल पहेली को उन्होंने साधिकार बोधगम्य बनाने की चेष्टा की है। पैने तर्क और प्रखर प्रतिभा के कारण उनके बनाये चित्रों की आकृतियाँ स्पष्टता से उभरने लगती हैं। रसल के अत्यन्त विस्तृत और गम्भीर अध्ययन के कारण उनके निर्णय प्रभावी हो जाते हैं। विशेषज्ञों की भांति ही वे अपने विषय पर बोलते हैं, उसे समझते हैं और सर्वसाधारण के लिए उसे ग्राह्य बनाते हैं।

रसल की प्रस्तुत पुस्तक सन् १९५२ में उनकी बयासवीं वर्षगांठ के अवसर पर प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में उन्होंने अपने अगाध पाण्डित्य का उपयोग इस बात की परीक्षा करने में किया है कि विज्ञान और औद्योगिकी की क्रान्तिकारी प्रगति ने वर्तमान सामाजिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित किया है और भविष्य में इसकी क्या संभावनाएँ हो सकती हैं। पश्चिम में बहुत कम विद्वानों का ध्यान अभी तक इस गम्भीर समस्या की ओर गया है। विज्ञान ने अनेक अंधविश्वासों और परम्पराओं का उन्मूलन कर एक नवीन जैविक समाज की रचना की है जिसके विभिन्न अवयव एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। कृषि के क्षेत्र में, किन्तु उससे भी बढ़कर उद्योगों

में हमें इस तथ्य के दर्शन होते हैं। इस समाज में व्यक्ति की स्वतन्त्रता किस प्रकार खतरे में पड़ती जा रही है इसकी ओर उन्होंने ध्यान आकृष्ट किया है। विज्ञान की शक्ति से लैस अधिनायक वाद की विभीषिका की ओर उनका ध्यान विशेष रूप से गया है। जनतंत्र की विशेषताओं और उसकी अक्षमताओं का उन्होंने सूक्ष्मता के साथ विश्लेषण कर यह समझाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार दोषों को दूर कर उसे अधिक उपादेय बनाया जा सकता है।

यदि वैज्ञानिक आविष्कारों का केवल युद्ध के लिए उपयोग होता रहा तो इससे कैसी विषमताएँ उत्पन्न होंगी इसकी भी प्रस्तुत ग्रन्थ में चर्चा की गयी है। विज्ञान द्वारा क्या एक सुन्दर सुनहरे भविष्य का निर्माण किया जा सकता है ?—इस प्रश्न का उत्तर देने का भी उन्होंने प्रयास किया है। विज्ञान से हम संसार के अधिकांश भागों में फैली निर्धनता मिटा सकते हैं; कुछ ही घंटों के परिश्रम से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर शेष समय कला, विज्ञान आदि के चिन्तन, अध्ययन, अन्वेषण में लगा जीवन का सर्वतोमुखी विकास कर सकते हैं। विज्ञान हमारे लिए शिक्षा का अत्यधिक विस्तार कर अनेकानेक नवीन अवसर प्रदान कर सकता है। रसल का चिन्तन उन्हें करीब-करीब वहीं ले जाता है जहाँ ईसाई धर्म की अनेक कल्पनाएँ पहुँचती हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं—हमारे युग को कुछ चीजों की नितान्त आवश्यकता है तो कुछ चीजों से उसे दूर रहना होगा। उसे करुणा की आवश्यकता है और आवश्यकता है इस इच्छा की कि मनुष्य मात्र सुखी जीवन व्यतीत करे। हमारे युग को ज्ञान पिपासु बनने की आवश्यकता है और आवश्यकता है उन अनेक सुन्दर भ्रान्तियों को दूर करने की जिनसे वह चिपका हुआ है। सबसे अधिक आवश्यकता है साहस की, आशा की और सृजन करने की इच्छा की। जिन चीजों से उसे दूर रहना है और जिनके कारण वह अनेक बार विनाश के बहुत निकट पहुँच चुका है वे हैं—क्रूरता, लोभ, द्वेष, ईर्ष्या और फ्राइड के अनुयायियों की भाषा में जिसे कहते हैं मृत्यु की कामना।··· उसे आवश्यकता है प्रेम की, लगभग उसी प्रकार के प्रेम

की जिसकी कल्पना ईसाई धर्म ने की है। आवश्यकता है करुणा की इत्यादि।'

पुस्तक के अन्तिम अध्याय में रसल ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश की है—क्या विज्ञान पर आधारित समाज स्थायी रहेगा? कई प्रकार की कठिनाइयाँ—भौतिक कठिनाइयाँ—स्पष्ट ही सामने दिखाई देती हैं। उदाहरण के लिए उद्योगों के लिए कच्चे माल का अभाव, अन्न के भाण्डार का क्षय, जनसंख्या में वृद्धि आदि कठिनाइयाँ समाज के जीवन को संकट में डाल सकती हैं इस समाज को स्थिरता प्रदान करने के लिए अनुकूल मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का निर्माण करना होगा। काम धन्धों के क्षेत्र में तथा खेल के मैदान में सभी जगह अभिक्रम के लिए अवसर प्रदान करने होंगे। राजनीतिक और आर्थिक ढाँचे को अक्षुण्ण रखते हुए शक्ति का अधिकतम विकेन्द्रीकरण करने की आवश्यकता होगी।

बर्ट्रेन्ड रसल इस युग के अंग्रेजी भाषा के लेखकों में प्रथम पंक्ति में स्थान पाने के अधिकारी हैं। अंग्रेजी भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है। अपने विशाल ज्ञान को अत्यन्त सरल, स्पष्ट एवं प्रभावशाली भाषा में व्यक्त करने की उनकी क्षमता ने एक ऐसी सुन्दर आकर्षक शैली को जन्म दिया है जिसकी समानता बहुत ही कम लेखक कर सकने में समर्थ होंगे। अन-गिनती तथ्यों को और जटिल से जटिल विचारों और संकल्पनाओं को अपने निष्कर्षों के लिए प्रयुक्त करने में वे अत्यन्त कुशल हैं। उनकी सरलता कभी-कभी असावधान पाठक को धोखे में डाल सकती है। इस तथाकथित सरलता के पीछे उनका अगाध पाण्डित्य, मौलिक चिन्तन और अध्ययन छिपा हुआ है। उनकी शैली परिमार्जित है और वे गणितज्ञ की तरह एक भी शब्द का अपव्यय नहीं करते। उनकी भाषा में हीरे की सी दृढ़ता और चमक है और वह पाठक को आनन्द प्रदान करती है।

—डा० एल० एफ० व्हाइट

अनुवादक के दो शब्द

बीसवीं शताब्दी के विचारकों में बर्ट्रेण्ड रसल को मूर्द्धन्य स्थान प्राप्त है। उनको यदि आधुनिक वैज्ञानिक युग की विचारधारा के श्रेष्ठ व्याख्याकार कहें तो इसमें किसी प्रकार की अत्युक्ति न होगी। उन्होंने विज्ञान की एक नहीं अनेक शाखाओं का गंभीर अध्ययन किया है। मुख्य रूप से वे एक गणितज्ञ हैं और इसीलिए शायद उनकी भाषा इतनी नपी तुली और अभिव्यक्ति इतनी निर्भ्रान्त होती है। गहन विषयों की सरलतम भाषा में व्याख्या कर उन्होंने सामान्य पाठक का बड़ा उपकार किया है। उन्होंने अनेक विषयों पर लिखा है और आज भी लिखते जा रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों से वे परमाणु अस्त्रों के विरोध में हुए आन्दोलनों का नेतृत्व कर संसार को विनाश के मार्ग से बचने का परामर्श दे रहे हैं।

हमें उनके एक प्रसिद्ध ग्रन्थ का अनुवाद हिन्दी पाठकों को सौंपते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है। हिन्दी भाषी जनता श्री रसल की प्रखर प्रतिभा, उनके विचार और मौलिक चिन्तन से परिचय प्राप्त कर सके इस उद्देश्य से उनकी कृति—Impact of Science on Society—का यह रूपान्तर किया गया है।

आधुनिक युग में विज्ञान और औद्योगिकी की प्रगति को देख बुद्धि भ्रमित सी हो जाती है। वह रोमांचकारी प्रगति हमें कहाँ ले जानेवाली है? विज्ञान का यह रथ अनियन्त्रित अन्ध वेग से बढ़ता हुआ क्या सीधे विनाश के लौह द्वार से टकराकर चूर-चूर हो कर ही रहेगा? इस प्रकार के प्रश्न आज अनेकों के मन में उठने लगे हैं? एच. जी. वेल्स जैसे प्रथम कोटि के लेखकों ने वैज्ञानिक युग के अनेक भयावह चित्र प्रस्तुत किये हैं। क्या सचमुच ही विज्ञान मनुष्य के लिए अशेष सर्वनाश का मार्ग प्रशस्त कर रहा है? यदि इस दुरन्त वास्तविकता में ही आधुनिक विज्ञान की परिणति

होना है तो सचमुच ही कुछ सोचने विचारने का यह समय है। रसल ने इसी चुनौती वाले प्रश्न का उत्तर देने का यहाँ प्रयास किया है ? उनका उत्तर नकारात्मक नहीं है लेकिन उससे समाधान भी नहीं होता। यदि रसल की यह प्रयोजनहीन सृष्टि, जिसका कोई कर्ता नहीं, जिसका कोई लक्ष्य नहीं, अन्धकार पूर्ण मार्गों से लड़खड़ाती हुई अनिश्चित दिशा की ओर बढ़ रही है तो इसका विनाश सुनिश्चित ही समझना चाहिए। लेकिन वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। दार्शनिकों को ही नहीं अनेक वैज्ञानिकों को भी चेतना से ओत-प्रोत इस सृष्टि के पीछे किसी का छिपा हुआ प्रयोजन दिखाई दिया है। यही क्यों उस अदृष्ट सृष्टि कर्ता के अस्तित्व, ऐश्वर्य और महिमा की प्रतीति हुई है। इसीलिए तो हमे इस पृथ्वी से इतना लगाव है। ऊपर के नीलाभ आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और तारक पुंजों को देख देख आँखें तृप्त नहीं होती। यह समस्त सृष्टि यदि अणु परमाणुओं के आकस्मिक संघात का ही परिणाम होती तो यह करुणा से प्रेरित मानव दूसरों के कष्ट देख क्यों अपने को बलिदान करता ? प्रयोगशाला में ही समस्त ज्ञान की उपलब्धि नही होती। बहुत सा ज्ञान अनुभवगम्य है। विज्ञान की तथाकथित प्रयोग-शाला के पूर्व समस्त ज्ञान चेतना का विषय होता है।

आज जिस वेग से पृथ्वी का शोषण हो रहा है वह विज्ञान की सबसे बड़ी अवैज्ञानिक देन है। जिस निर्ममता से आज संसार के उन्नत कहलाने वाले राष्ट्र प्राकृतिक सम्पदाओं—तेल, लोहा, कोयला, वन्य सम्पत्ति, सोना-चाँदी—आदि का दुरुपयोग कर रहे है वह एक दिन पृथ्वी को जर्जर, कुरूप और निर्धन बनाकर रहेगी। भविष्य के इतिहास मे निश्चय ही आज के युग को 'शोषण काल' की संज्ञा मिलेगी।

विज्ञान ने मनुष्य को अपने ऊँचे आसन से बहुत नीचे गिरा उसका दर्प चूर्ण कर दिया है ? लेकिन क्या सचमुच ही उसका अभिमान कम हुआ है ? अपनी वास्तविक स्थिति पहचानने के बाद भी पृथ्वी से चन्द्रलोक, वहाँ से मंगल और फिर शुक्र और फिर अन्य ग्रहों मे प्रवेश करने की उसकी योजना बनती जा रही है। यदि पृथ्वी पर उसके विज्ञान ने सर्वनाश का ताण्डव

उपस्थित नहीं किया तो उसकी यह यात्रा अनन्त काल तक चलती रहेगी। लेकिन सर्वनाश की स्थिति संभवतः कभी नहीं आयेगी क्योंकि मनुष्य को जीवन से प्रेम है और मृत्यु उसे भयभीत करती रहती है।

चीन और भारत की निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या से भी रसल को भय है। इस बाढ को रोकना ही होगा नहीं तो पश्चिमी राष्ट्रों की यह बहु-मूल्य सभ्यता और उनका उन्नत जीवन स्तर दोनों ही संकट मे पड़ेंगे ऐसी ध्वनि इस तटस्थ से दीखने वाले वैज्ञानिक के स्वगत भाषण मे सुनाई देती है। विश्व विख्यात इतिहासवेत्ता टौइनवी ही की भाँति रसल भी पश्चिमी सभ्यता के अनन्य प्रशंसक हैं।

बर्टेण्ड रसल के दर्शन और उनके निष्कर्षो से हम सहमत हों या नहीं, चिन्तनशील पाठकों को इस पुस्तक मे अवश्य पठनीय सामग्री मिलेगी। पुस्तक का हिन्दी संसार में स्वागत होगा इस विश्वास के साथ हम इसे अपने पाठकों को समर्पित करते हैं।

—चन्द्र दत्त पाण्डेय

विषय-क्रम

१.	विज्ञान और परम्परा	१
२.	वैज्ञानिक प्रविधियों के सामान्य प्रभाव	२७
३.	वर्ग विशेष का शासन और विज्ञान	५८
४.	जनतन्त्र और विज्ञान की प्रविधि	७३
५.	विज्ञान और युद्ध	९२
६.	विज्ञान और मूल्य	१००
७.	क्या वैज्ञानिक युग का समाज स्थायी हो सकता है ?	१२४

●

अध्याय एक

विज्ञान और परम्परा

पृथ्वी पर मनुष्य की आयु लगभग दस लाख वर्ष की हो चुकी है। लगभग ६००० वर्ष हुए जब उसने लिखने की कला सीखी थी। उसका कृषि का ज्ञान लिखने के ज्ञान की तुलना में प्राचीनतर है किन्तु अत्यधिक प्राचीन नहीं। और विज्ञान, जो कि शिक्षित मनुष्य के विश्वासों को प्रभावित करने लगा है, तीन सौ वर्ष से अधिक पुराना नहीं हुआ है, और आर्थिक निर्माण के क्षेत्र में तो उसके उपयोग को डेढ़ सौ वर्ष से अधिक नहीं हुए हैं। ज्योंही हमारे विचार में यह बात आती है कि यह विज्ञान कुछ ही समय के भीतर अत्यधिक शक्तिशाली बन गया है त्योंही हम यह मानने को विवश हो जाते हैं कि मनुष्य के जीवन को सम्पूर्ण रूप से बदलने का विज्ञान का कार्य तो अब प्रारम्भ ही हुआ है। भविष्य में यह मानव जीवन को किस प्रकार प्रभावित करेगा इस सम्बन्ध में अनेक अनुमान लगाये जा सकते हैं; किन्तु अभी तक विज्ञान ने हमारे जीवन को किस प्रकार और कितना प्रभावित किया है, इसके आधार पर भविष्य के सम्बन्ध में अनुमान लगाना अपेक्षाकृत अधिक तर्क संगत होगा।

२ : समाज पर विज्ञान का प्रभाव

विज्ञान के प्रभाव अनेकाग्र और वैविध्य से पूर्ण हैं। कुछ ऐसे प्रभाव हैं जो सीधे बौद्धिक स्तरों पर आक्रमण करते है। इनके कारण अनेक परम्परागत धारणायें खण्डित और निराकृत हुई है; यही नहीं, वैज्ञानिक प्रणाली की सफलताओं के कारण अतीत से चले आ रहे अनेक विश्वासों का स्थान दूसरे विश्वासों ने ले लिया है। दूसरे महत्त्वपूर्ण प्रभाव हुए है उद्योग और युद्ध कला के क्षेत्रों में। इन क्षेत्रों को विज्ञान ने आश्चर्यजनक रूप से प्रभावित किया है। इसके अतिरिक्त, मुख्यतया आधुनिक वैज्ञानिक प्रणालियों को अपनाने के फलस्वरूप सामाजिक संगठनों में गम्भीर और आधारभूत परिवर्तन हो रहे हैं। और इनके कारण धीरे-धीरे राजनीति का क्षेत्र भी प्रभावित होता जा रहा है और उसमें भी परिवर्तन होने लगे है। अन्त में, आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य को परिस्थितियों को नियन्त्रित करने की सामर्थ्य प्रदान की है जिसके फल-स्वरूप एक नवीन दार्शनिक प्रणाली का जन्म हो रहा है। विज्ञान पर आधारित इस नये दर्शन ने विश्व में मनुष्य की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में विचार और संकेत प्रस्तुत किये है।

मानव जीवन पर होने वाले विज्ञान के इन त्रिविध प्रभावों की मैं क्रम से व्याख्या करूँगा। सर्व प्रथम मैं यह बतलाने की चेष्टा करूँगा कि किस प्रकार विज्ञान के विशुद्ध बौद्धिक प्रभावों ने जादू-टोना, अभिचार आदि परम्परा से चले आ रहे निराधार मिथ्या विश्वासों को क्षीण कर दिया है। तदनन्तर मैं विज्ञान की तकनीक पर, विशेषतः औद्योगिक क्रान्ति के बाद होने वाली इसकी प्रगति पर अपने विचार प्रकट करूँगा, अन्त मे मैं उन दार्शनिक सिद्धान्तों की मीमांसा करूँगा जिसकी ओर विज्ञान की अनेक सफलताएं स्पष्ट संकेत कर रही हैं। और मैं अपने इस कथन को स्पष्टता से समझाने का प्रयत्न करूँगा कि अगर जीवन के इस नवीन दर्शन को नियन्त्रित न किया गया तो यह एक ऐसे विवेक-हीन मार्ग से मानव को ले जायेगा जिसके परिणाम बहुत भयावह और विनाशकारी हो सकते है।

नृ-विज्ञान (Anathropology) के अध्ययन से भली प्रकार सिद्ध

हो गया है कि कैसे असभ्य मनुष्यों के जीवन को नाना प्रकार के निराधार विश्वास प्रभावित करते हैं: बीमारियाँ जादू-टोने या मन्त्र-तन्त्रों के कारण हुआ करती हैं। अकाल या दुर्भिक्ष देवताओं की या दुष्ट स्वभाव के दानवों की अप्रसन्नता के कारण होते हैं। सभ्यता के इस प्रारम्भिक काल के मनुष्य-समाज में अनेकों ऐसे अन्ध-विश्वास पाये जाते हैं। नर-बलि देकर युद्धभूमि में विजय प्राप्त की जा सकती है; मनुष्य का रक्त देकर भूमि की उर्वरता मे वृद्धि की जा सकती है; चन्द्र और सूर्य ग्रहण का होना, और धूम-केतुओं का अचानक प्रकट होना आने वाले घोर अनिष्ट की दैवी सूचना है—इस प्रकार के विश्वास अति प्राचीन काल से आज तक चले आ रहे हैं। यही कारण है जो आज भी हम आदिम जातियों के जीवन में अनेक प्रकार के विधि-निषेधों की मर्यादाएँ देखते हैं। एक भी परम्परा से चले आ रहे निषेध के उल्लंघन का परिणाम सारे समाज के लिए विपत्ति का कारण हो सकता है।

बर्बरता के युग का यह दृष्टिकोण कहीं-कहीं अत्यन्त प्राचीन काल में ही सभ्यता के जन्म के साथ ही बदलने लगा था इसके प्रमाण भी मिलते हैं। प्राचीन बाइबिल मे नर-बलि के अनेक सुविदित उदाहरण पाये जाते हैं; जेफ्था की पुत्री की कहानी तथा अब्राहम और आइजक की कहानियों में नर-बलि के रोमाञ्चकारी वर्णन पढ़ने को मिलते हैं; किन्तु ऐतिहासिक काल में प्रवेश करने के साथ ही हम देखते हैं कि यहूदियों ने इस नृशंस प्रथा का परित्याग कर दिया था। यूनानियों ने तो नर-बलि की प्रथा को लगभग ७०० ई० पूर्व ही त्याग दिया था यद्यपि कार्थेज निवासियों में प्यूनिक (Punic) युद्धों के काल तक यह प्रथा प्रचलित थी। भूमध्य सागरीय देशों में नरबलि की क्रूर प्रथा का अपचय उतना विज्ञान के कारण नहीं हुआ जितना सम्भवतः मानवता-वादी भावनाओं के विकास के कारण हुआ। अन्य सभी क्षेत्रों में प्राग्-ऐतिहासिक युग के अन्धविश्वासों के उच्छेद में विज्ञान का ही प्रमुख हाथ रहा है। प्रकृति चित्रपट पर दिखाई देने

वाले अनेक दृश्यों में सर्व प्रथम ग्रहणों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने अन्धविश्वासों को स्खलित किया। बैबिलन के लोग चन्द्र और सूर्यग्रहण के सम्बन्ध में अति प्राचीन काल में ही गणना करने में सफल हो गये थे। सूर्यग्रहण के सम्बन्ध में उनकी भविष्य वाणियाँ कभी-कभी सही नहीं निकलती थीं। फिर भी पुरोहित वर्ग ने इस अपूर्ण ज्ञान को अपने अधिकार में अपना हित साधन करने के लिए सुरक्षित रखा। इससे द्वारा जन साधारण को अपने वश में रखने में उन्हें बड़ी सहूलियत हुई। बैबिलन देश से जब यूनान वालों ने इन रहस्यों को प्राप्त किया तो ज्योतिष की अनेक विस्मयकारी गवेषणाओं में बड़ी प्रगति हुई। पाँचवीं शताब्दी के ईस्वी पूर्व के एक प्रसिद्ध यूनानी इतिहास लेखक थूसीडाइडीज ने एक सूर्यग्रहण का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यह घटना प्रतिपदा के दिन घटी थी। यही नहीं उसने अपना इस सम्बन्ध में मत भी व्यक्त किया है और यह भी गणना करते हुए बताने का प्रयत्न किया है कि सूर्य में किसी अन्य तिथि पर ग्रहण लग ही नहीं सकता। इस लेखक के वक्तव्य के कुछ ही वर्षों बाद पाइथागोरस (५७०-५४० ईस्वी पूर्व) के अनुयायियों ने सूर्य और चन्द्र ग्रहण के सम्बन्ध में सही-सही गणना करने का सिद्धान्त प्राप्त कर लिया। यही नहीं ये यह अनुमान लगाने में भी सफल हो गये कि चन्द्र बिम्ब पर पड़ने वाली छाया पृथ्वी की ही गोल आकृति को प्रकट करती है। इस प्रकार यद्यपि बौद्धिक वर्ग के कुछ बिशिष्ट पुरुषों के लिए ग्रहण लगने की घटनाएँ विज्ञान के सिद्धान्तों की सीमा के अन्दर आ गयीं, जन साधारण के लिए सुदीर्घ काल तक यह रहस्य का ही विषय बना रहा। १७ वीं शताब्दी में इंगलैण्ड के महाकवि मिल्टन ने उस काल का वर्णन अपनी कविता में किया है जबकि "सूर्य ग्रहण से ग्रस्त होता है, धूमिल प्रकाश भयानक छाया को प्रलम्बित करता है और पृथ्वी प्रकम्पित हो उठती है और महामहिम सम्राट् परिवर्तन की दुश्चिन्ता से भयभीत होने लगते हैं!" मिल्टन के लिए इन घटनाओं का काव्यात्मक वर्णन के लिये ही मुख्य उपयोग था। धूम्रकेतु तो बड़ी लम्बी अवधि के बाद वैज्ञानिकों की गणना के

भीतर लाये जा सके। सच तो यह है कि न्यूटन और उसके मित्र हेली की गवेषणाओं ने इन सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने का कार्य पूरा किया। सीजर की मृत्यु की सूचना धूम्रकेतु के आगमन से ही मिल गई थी जैसा कि शेक्सपियर के नाटक में कलपूर्निया से कहलाया गया है।

"निम्न कोटि के अज्ञातनाम भिखमंगों की मृत्यु होने पर धूम्रकेतुओं का आविर्भाव नहीं होता; महामहिम शासकों की मृत्यु की सूचना देने को ही आकाश जगमगा उठता है।"

प्रसिद्ध ज्योतिषी और पुरोहित बीड ने कहा है—"धूम्रकेतुओं का आगमन विप्लव, राज्यक्रान्ति, महाव्याधि, युद्ध, झंझा या तूफानों की पूर्व सूचना के लिये होता है।" जौन-नौक्स के मतानुसार धूम्रकेतुओं का आविर्भाव ईश्वरीय कोप का संकेत है। नौक्स के अनुयायियों का तो यहाँ तक कहना था कि धूम्रकेतु का आगमन सम्राट् के लिए स्पष्ट ईश्वरीय आदेश है कि वह पोप के अनुयायियों का समूल उच्छेद करे। शेक्सपियर के मन में भी धूम्रकेतुओं के सम्बन्ध में अनेक अन्धविश्वास पूर्ण धारणाएँ विद्यमान थीं। उसके नाटकों से इस बात की पुष्टि होती है। शिक्षित समाज ने आम तौर पर धूम्रकेतुओं को अनिष्ट सूचक समझना तब बन्द किया जब इस सिद्धान्त की पुष्टि हो गई कि ये ग्रह उपग्रह गुरुत्वाकर्षण के नियमों का अनुसरण करते हुए चलते हैं और उनमें से कुछ के वृत्तीय-मार्ग का पहिले ही से अनुमान लगाया जा सकता है।

सम्राट् चार्ल्स द्वितीय के समय में शिक्षित व्यक्तियों ने वैज्ञानिक तर्क का अधिकाधिक आश्रय ले परम्परागत मिथ्या विश्वासों का परित्याग प्रारम्भ किया। चार्ल्स द्वितीय ने क्रौमवैल के समर्थकों के विरुद्ध जिन्हें हठ-धर्मी कहा जाता था विज्ञान की ही सहायता ली। उसने रौयल सोसायटी की स्थापना की और विज्ञान के अध्ययन को उच्च वर्ग में प्रचलित किया। राजदरबार से धीरे-धीरे विज्ञान की यह ज्योति निचले स्तरों की ओर बढ़ने लगी। अभी भी इंगलैण्ड की संसद का दृष्टिकोण सम्राट् की तरह

आधुनिक नही हो पाया था। प्लेग और अग्निकाण्ड की जो दो बड़ी दुर्घटनाएँ इस समय इंगलैण्ड में घटीं उनकी जाँच के लिये एक समिति नियुक्त की गयी। जनसाधारण के मत में ये घटनाएँ दैवी कोप का परिणाम थीं, यद्यपि यह किसी के लिए भी स्पष्ट नहीं था कि देवी कोप का क्या कारण हो सकता है? संसद की जाँच समिति इस निष्कर्ष पर पहुँची कि कि दैवी कोप के प्रमुख कारण हैं टौमस हौब्स के अनैतिक ग्रन्थ। अतः लोक सभा ने आदेश ज़ारी किया कि हौब्स के किसी भी ग्रन्थ को इंगलैण्ड में प्रकाशित न किया जाय। यह आज्ञा पूर्णरूप से प्रभावी सिद्ध हुई। तब से आज तक लन्दन नगर मे न तो प्लेग का वैसा आक्रमण हुआ है और न वैसे भयानक अग्निकाण्ड की पुनरावृत्ति हुई है। सम्राट् चार्ल्स इस आदेश से अत्यन्त क्रुद्ध हुआ क्योंकि वह हौब्स का बड़ा प्रशंसक था और उसी से उसने गणित की शिक्षा प्राप्त की थी। लेकिन पार्लियामेट का तो यह सुनिश्चित मत था कि ईश्वरीय शासन के आन्तरिक रहस्यों से जितना घनिष्ठ परिचय लोकसभा के सदस्यों का हो सकता है उतना सम्राट् का नही हो सकता। यह उस युग की बात है जबकि जादू-टोना आदि पर लोगों का विश्वास अन्ध-विश्वास समझा जाने लगा था। जेम्स प्रथम ने तो जादूगरनियों को दण्डित करने में कठोर-नीति अपनायी। शेक्सपियर का 'मैकवैथ' नाटक पढ़ने पर ऐसा लगता है कि मानो वह शासन के प्रचार-साहित्य का ही भाग हो, और निस्सन्देह उसमें जो जादूगरनियाँ हैं उनके कारण मैकवैथ नाटक सम्राट् की प्रशस्ति सा जान पड़ता है। यहाँ तक कि बेकन भी (जो अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिए प्रसिद्ध था) जादू-टोने मे विश्वास करता हुआ दिखाई देता है और जब संसद ने जादूगरनियों को कठोर दण्ड देने का कानून पास किया तो संसद सदस्य होते हुए भी बैकन ने उसका विरोध नहीं किया। कौमनवेल्थ के शासन-काल में तो यह विश्वास चरम-सीमा पर पहुँचा हुआ दिखाई देता है। इसका प्रधान कारण तो यह था कि प्यूरिटन लोग विशेष रूप से शैतान की शक्ति के सम्बन्ध में अन्ध-विश्वास पूर्ण धारणाओं से ओत-प्रोत थे। इसीलिये चार्ल्स द्वितीय के सम्राट् बनने

पर, शासन ने जादू-टोने वालों को ढूँढ-ढूँढ कर दण्डित करने में अधिक दिलचस्पी नहीं दिखाई। द्वितीय चार्ल्स के समय तक जादूगरों के कार्यों में अन्धविश्वास क्षीण हो गया था। जादू-टोने सम्बन्धी अन्तिम मुकद्मा इँगलैण्ड में सन् १६६४ मे हुआ जिसमें सर टौमस ब्राउन ने एक जादूगरनी के विरुद्ध साक्ष्य दिया था। धीरे-धीरे जादू-टोने के विरुद्ध बने हुए कानूनों का उपयोग कम होता गया और १७३६ में ये कानून निरस्त कर दिये गये—यद्यपि, सन् १७६८ तक भी जौन वैस्ले जैसे लोग अन्ध विश्वासों में श्रद्धा रखते हुए पाये जाते है। स्कौटलैण्ड में कुछ अधिक समय तक ये अन्धविश्वास जीवित रहे। जादू-टोने सम्बन्धी अपराध मे इग्लैण्ड में सन् १७२२ में अन्तिम व्यक्ति दण्डित हुआ था।

मानवता की ओर सामान्य बुद्धि की यह विजय वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास के ही कारण हुई न कि किसी तर्क विशेष के कारण। चार्ल्स द्वितीय के काल में जिस बुद्धिवाद का प्रारम्भ हुआ उसने पुरानी विचारधारा को करीब करीब असम्बद्ध और अस्वाभाविक सा बना दिया। इस बुद्धिवाद का जन्म एक अन्य कारण से भी हुआ। पुरानी कट्टर आचार-संहिता के विरुद्ध यह एक प्रकार का विद्रोह था इसे भी हमे स्वीकार करना पड़ेगा।

जिन मिथ्या विश्वासों ने जादू-टोने आदि के सम्बन्ध में श्रद्धा उपजाई थी उनके साथ औषधि शास्त्र के क्षेत्र में भी विज्ञान को संघर्ष करना पड़ा था। जब वेसालियस (vesalius) ने सर्व प्रथम शवों की चीरफाड़ प्रारम्भ की तो धर्माचार्यों को लगा कि जैसे वह घोर निन्दनीय कार्य कर रहा हो। सम्राट् चार्ल्स पञ्चम के कारण कुछ समय तक वह यन्त्रणाओं से और दण्ड से बचा रहा। चार्ल्स का स्वास्थ्य अत्यन्त नाजुक स्थिति में पहुँच गया था और उसे वेसालियस के अतिरिक्त किसी दूसरे चिकित्सक में रञ्च मात्र भी विश्वास नहीं था। ज्योंही सम्राट् की मृत्यु हुई, वेसालियस के शत्रुओं को चिर प्रतीक्षित अवसर प्राप्त हुआ और उस पर आरोप लगाया गया कि वह लोगों की मृत्यु के पूर्व ही शरीर पर शल्य-क्रिया करता है अतः उसे प्राय-

श्चित्त करने पर विवश किया गया और उसे तीर्थ यात्रा का आदेश दिया गया। समुद्र-यात्रा के बीच ही तूफान में फँस कर उसका जहाज नष्ट हो गया और सर्दी से उसकी मृत्यु हो गई। उसके, डाक्टर हार्वे के और दूसरे महान् व्यक्तियों के कार्यों के बाद भी औषधि-विज्ञान बहुत समय तक मिथ्या विश्वासों के भार से दबा ही रहा। विक्षिप्तता के सम्बन्ध में उन दिनों का यह सामान्य रूप से विश्वास था कि भूत-प्रेतों के द्वारा वश में किये जाने का यह दुष्परिणाम है। इससे मुक्ति पाने का केवल एक ही उपाय लोग जानते थे। विक्षिप्त व्यक्ति को असह्य शारीरिक यन्त्रणा दी जाती थी जिससे कि भूत-प्रेत उसे छोड़ कर भाग जाँय। सम्राट् जॉर्ज तृतीय जब पागलपन में ग्रस्त हुआ तो इसी चिकित्सा-पद्धति से उसका उपचार किया गया। जन साधारण में तो इस प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ वर्षों तक जीवित रहीं। मेरी ही एक चाची को, जब उसके पति ने रक्षा मन्त्रालय से झगड़ा मोल लिया, यह भय सताने लगा कि कहीं चिन्ता के कारण उसके पति पर "टाइफस" का आक्रमण न हो जाय। वास्तव में औषधि-विज्ञान अपने आधुनिक वैज्ञानिक स्वरूप को उस समय पाने लगता है जब हम लुईपाश्चर और लिस्टर के युग में आते हैं। चिकित्सा शास्त्र के विकास के फल-स्वरूप मानवता को जिन असहनीय वेदनाओं से मुक्ति मिली है उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। १७ वीं शताब्दी के कतिपय महान् पुरुषों के कार्यों के परिणाम-स्वरूप न कि किसी बौद्धिक तर्क के कारण संसार को देखने समझने के लिए एक नवीन दृष्टिकोण का विकास हुआ। इस दृष्टिकोण ने अभिचार, भूत प्रेत-बाधा आदि पर, अतीत से चली आ रही अन्ध-श्रद्धा को क्षीण कर दिया। मेरे विचार में १९ वीं शताब्दी के नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण में तीन महत्त्वपूर्ण बातें सम्मिलित थीं—

१. किसी भी तथ्य का स्वरूप और विवेचन सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित होना चाहिये। निराधार प्रमाण चाहे कितने ही महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के कथन पर आधारित हो स्वीकार नहीं किया जा सकता।

२. अचेतन संसार एक स्वचालित, स्वनिष्ठ और विकासोन्मुख व्यवस्था है जिसमें होने वाले समस्त परिवर्तन प्राकृतिक नियमों का अनुसरण करते हैं।

३. हमारी यह पृथ्वी न तो समस्त विश्व का केन्द्र ही है और न मनुष्य जीवन ही इसका एक मात्र प्रयोजन हो यह विचार तर्क संगत लगता है। स्वयम् "प्रयोजन" शब्द एक ऐसा विचार है जो वैज्ञानिक दृष्टि से अर्थहीन जान पड़ता है।

इन तीन विचारों से मिलकर १९ वीं शताब्दी का वह यान्त्रिक दृष्टिकोण वाला दर्शनशास्त्र निर्मित हुआ जिसकी धर्माचार्यों ने घोर निन्दा की है। इस दृष्टिकोण के कारण अनेक अमानुषिक शारीरिक यन्त्रणाओं की प्रथाएँ बन्द हो गयीं और एक मानवीय वृत्ति का जन्म हुआ। अब यह विचारधारा पुनः अग्राह्य बनती जा रही है और यन्त्रणाओं की प्रथा पुनर्जीवित हो रही है। जो लोग समझते हैं कि नैतिक दृष्टि से यान्त्रिक दर्शनशास्त्र अहितकर है उनके समक्ष में निम्नलिखित कुछ विचार प्रस्तुत करना चाहता हूँ—

यान्त्रिक दृष्टिकोण वाले दर्शन में पाये जाने वाले जिन तीन मुख्य विचारों का मैंने अभी उल्लेख किया है उनके सम्बन्ध में भी कुछ विस्तार से कहना आवश्यक है।

१. परीक्षण आचार्यों के कथन का प्रमाण
(Observation Versus auhority)

आधुनिक काल के शिक्षित व्यक्तियों को जब किसी तथ्य के सम्बन्ध में असंदिग्ध ज्ञान की आवश्यकता होती है तो वे प्राचीन काल के प्रामाणिक ग्रन्थों की सहायता लेने के स्थान पर स्वयं ही परीक्षण करना उचित समझते हैं। अति-आधुनिक काल में इस प्रकार की कार्य पद्धति विकसित हुई है। सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व तो इस दृष्टिकोण का एक प्रकार से अभाव ही था। अरस्तू जैसे महापण्डित की बात पर सन्देह करने का दुस्साहस

कौन करता। और अरस्तू ने सभी कुछ तो कह डाला था। उदाहरण के लिए उसका कहना था कि पुरुषों की तुलना में स्त्रियों के मुँह में कम दाँत होते हैं। अरस्तू की दो दो पत्नियाँ थीं, फिर भी इस विद्यावारिधि पण्डित के मन में कभी यह विचार नहीं आया कि एक बार अपने कथन की सचाई की पुष्टि के लिए अपनी पत्नियों के मुँह खोल कर देखना ठीक होगा। अरस्तू ने जो विद्वत् मण्डली का अग्रणी था कितनी ही और भी ऐसी ही बातें कही थीं। उसका कहना था कि उत्तर दिशा से बहने वाली वायु में गर्भधारण करने पर सन्तान अधिक स्वस्थ होती है। ऐसा मालूम होता है कि अरस्तू की दोनों पत्नियाँ रात्रि को सोने के पहिले, वायु किस ओर से बह रही है, यह जानने के लिए घर से बाहर निकला करती थीं। अरस्तू ही का यह भी कथन था कि पागल कुत्ते के काटने पर कोई भी व्यक्ति पागल नहीं हो सकता लेकिन अन्य कोई भी प्राणी पागल कुत्ते के काटने पर पागल हो जायेगा [प्राचीन इतिहास ७०४ अ]। इसी इतिहास में अरस्तू ने लिखा है कि लम्बी थूथन वाली चुहिया के, विशेषकर गर्भिणी अवस्था में, काटने पर घोड़े की मृत्यु हो जाना निश्चित है। और उसी महान् दार्शनिक का यह भी कथन है कि निद्रा नाश रोग से पीड़ित हाथी के कन्धों पर नमक, बादाम का तेल और गरम पानी की मालिश से उसे नीरोग किया जा सकता है। इस प्रकार की कितनी ही अनर्गलताएँ इस पुस्तक में देखी जा सकती है। इतना सब होते हुए भी प्राचीन काल के बड़े-बड़े विद्वानों ने, जिन्होंने शायद कुत्ते और बिल्ली को छोड़ किसी दूसरे जानवर का कभी परीक्षण नहीं किया था अरस्तू की परीक्षणात्मक शैली की, और उस पर निर्भर ज्ञान की, मुक्त कंठ से प्रशंसा की है और आज तक करते जा रहे हैं।

सिकन्दर के द्वारा पूर्व की विजय का एक परिणाम यह भी हुआ कि यूनानी संसार में अनगिनती अन्ध-विश्वासों का प्रवेश होने लगा। विशेषतः ज्योतिष के क्षेत्र में इन अन्ध-विश्वासों को, जिन्हें बाद तक नास्तिकों का समर्थन प्राप्त होता रहा, हम देखते हैं ईसाई धर्म के आचार्यों ने

इन अन्धविश्वासों का तिरस्कार इसलिए नहीं किया कि उनका दृष्टिकोण विज्ञान सम्मत था बल्कि इसलिए कि इनके कारण अटल नियतिवाद के सिद्धान्त को प्रोत्साहन मिलता था। ईसाई धर्म के एक महान् सन्त अगस्तिन (३५४ ई० पूर्व से ४३० ई० पूर्व) के उपदेशों मे फलित ज्योतिष के विरोध मे एक विज्ञान-सम्मत तर्क भी एक स्थान पर मिलता है जिसे एक सन्देहवादी नास्तिक ने उद्धृत किया है। तर्क इस प्रकार है जुड़वाँ बच्चों के जीवन में प्रायः विभिन्नताएँ और वैषम्य दिखाई देते हैं यदि ज्योतिष के निष्कर्ष सही होते तो यह सम्भव नहीं हो सकता था।

जब यूरोप में विद्या के पुनर्जागरण का युग प्रारम्भ हुआ तो ज्योतिष में विश्वास स्वतन्त्र विचारकों का चिह्न समझा जाने लगा। इन स्वतन्त्र विचारकों का मत था कि धर्म चूँकि ज्योतिष की निन्दा करता है इसलिए इसके सत्य को हमें स्वीकार करना चाहिए। उस युग के स्वतन्त्र विचारकों का दृष्टिकोण परीक्षणात्मक विज्ञान के सम्बन्ध में उतना ही प्रगतिशील कहा जा सकता है जितना उनके विरोधियों का।

आधुनिक काल मे भी तो हम में से कितने ही लोग कितनी ही बातों को केवल इसलिए मान लेते है कि प्राचीन काल के विद्वानों ने उन्हे मान्यता दे रखी थी। सदा से ही हम लोगों से सुनते आ रहे है कि शुतुर्मुर्ग लोहे की कीलों को खाया करते है। किन्तु यहाँ पर मैं अपना ही उदाहरण दूँ तो असंगत न होगा। मेरे मन में यह संशय सदा उठता रहा कि झाड़ियों में रहने वाले शुतुर्मुर्ग को भोजन के लिए इतनी अधिक लोहे की कीलें कहाँ से मिलती होंगी, लेकिन प्राचीन काल से चले आ रहे इस विश्वास के परीक्षण की धृष्टता मैं नहीं कर पाया। कई वर्ष बीत गये और तब मुझे पता लगा कि इस प्रमाण वाक्य का उल्लेख प्लाइनी के इतिहास में किया गया है और इसमें रञ्च मात्र भी सचाई नहीं है।

अनेक कथनों पर लोग केवल इसलिए विश्वास कर बैठते है कि उनका मन अविश्वास नहीं करना चाहता। कितनी ही ऐसी भ्रान्त धारणाएँ जो

हमारे मन में घर किये हुई हैं, उन्हें दूर करने के लिए हमें न जाने कितने प्रमाणों की आवश्यकता होगी । उदाहरण के लिए हम मातृ संस्कारों को ही लें। प्राय: ही यह विश्वास किया जाता है कि गर्भावधि में माँ के ऊपर पड़ने वाले किसी प्रबल प्रभाव से सन्तान अवश्य ही प्रभावित होगी । इस विश्वास के लिए शास्त्रीय समर्थन भी प्राप्त ही हैं । सभी को मालूम है कि जिस प्रकार याकूब को धब्बों वाली गायें प्राप्त हुई थीं । आप किसी भी ऐसी महिला से, जिसे न विज्ञान से परिचय है और न वैज्ञानिकों से जिसका सम्पर्क रहा है, इस प्रकार की चर्चा कर देखिये । निश्चय ही वह महिला अपनी धारणाओं के समर्थन में आपके समक्ष ढेर सारे प्रमाण उपस्थित कर देगी ? 'श्रीमती क ने गर्भावधि में जाल में फँसी हुई एक लोमड़ी देखी और इसी कारण उसके बच्चे के पैरों मे लोमड़ी के पञ्जे की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है । आप श्रीमती ख को तो जानते ही है न ? नहीं, मैं तो नहीं मगर मेरी मित्र श्रीमती ग की उनसे घनिष्टता है । आप और अधिक छान बीन करने बैठिये तो आपको पता लगेगा कि श्रीमती ग. भी नहीं बल्कि एक अन्य कोई श्रीमती, जिसका अब नाम भी विस्मृत हो गया है, उन्होंने, यह सब अपनी आखों देखा था ।' उस प्रत्यक्षदर्शी महिला की खोज में आप अपने जीवन को ही खपा दीजिये लेकिन आप उसे न पा सकेंगे । वह एक काल्पनिक व्यक्ति से अधिक कुछ नहीं निकलेगी ।

अर्जित गुणों के सम्बन्ध में भी लगभग ऐसी ही स्थिति है । इसे असंदिग्ध सत्य मानने के लिए इतना अधिक आग्रह दिखाई देता है कि जीवविज्ञान के विशेषज्ञों को भी सचाई समझाने में कठिनाई का अनुभव होता है । रूस के बड़े से बड़े वैज्ञानिक भी स्टालिन के विश्वासों का निराकरण नहीं कर सके । कम से कम इस प्रश्न पर, वहाँ के वैज्ञानिकों को अवैज्ञानिक दृष्टिकोण स्वीकार करना ही पड़ा है ।

जब गैलीलिओ के दूरवीक्षण यंत्र द्वारा बृहस्पति (Jupiter) के चन्द्रमा स्पष्ट दिखाई देने लगे तो अनेक विद्वानों ने इन नवीन तथ्यों को

स्वीकार करने के बदले इस यंत्र का बहिष्कार करना ही श्रेयस्कर समझा। उनकी तो अटल मान्यता थी कि इन चन्द्रबिम्बों का अस्तित्व असम्भव है। निश्चय ही यह दूरवीक्षण यंत्र का प्रपंच व्यापार था।

परम्परा के प्रतिकूल परीक्षण पर श्रद्धा करना सहज नहीं है। यह भी कह सकते हैं कि यह मनुष्य स्वभाव के विपरीत है। विज्ञान इसी परीक्षण का आश्रय लेना चाहता है। यही कारण है जो विज्ञान और शास्त्रीय मान्यताओं के बीच दीर्घ काल तक संघर्ष चलता रहा। कितनी ही बातों में हम अभी तक विज्ञान की शिक्षा को हृदयंगम नहीं कर सके है। बहुत कम लोग आज भी हमारी इस बात को स्वीकार करने के लिए तत्पर होंगे कि किसी अवांछनीय स्वभावगत दुर्गुण को शारीरिक दण्ड द्वारा भी सुधारा जा सकता। उदाहरण के लिए हम आत्म-प्रदर्शन की मनुष्य की दुर्बलता को ही लें। इसे शारीरिक दण्ड द्वारा सुधारना सम्भव नहीं है। जिन व्यक्तियों से हम सत्रस्त रहते है उन्हे दण्डित हुआ देख हम कितने आनन्दित होते हैं। इसलिए हम यह स्वीकार नहीं कर पाते कि सामाजिक हित की दृष्टि से हमारा यह आनन्द वांछनीय नहीं है।

२. भौतिक जगत् की स्वतन्त्रता

प्राक्-वैज्ञानिक दृष्टिकोण को क्षीण करने वाला सबसे प्रबल कारण सम्भवतः गति के नियमों का ज्ञान था। इसके लिये संसार गैलीलियो का ऋणी रहेगा, यद्यपि लियोनार्दो द-विन्सी ने गैलीलियो के पूर्व ही इन नियमों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

गति का पहिला नियम हमें बताता है कि कोई भी पिण्ड जो गतिशील है इसी दिशा में उसी वेग से तब तक चलता रहेगा जब तक कि किसी अन्य वस्तु द्वारा उसका मार्ग अवरुद्ध न हो। गैलीलियो के पूर्व विद्वानों का ऐसा विश्वास था कि कोई भी निर्जीव पिण्ड अपने आप गतिमान् नहीं हो सकता और यदि उसमें गतिशीलता आ भी जाय तो धीरे-धीरे वह

स्थिरता की ओर अग्रसर होगा। इसके अतिरिक्त यह भी विश्वास किया जाता था कि केवल प्राणवान् पिण्ड ही बिना किसी बाह्य सहायता के गतिशील हो सकते हैं। आकाशस्थित पिण्डों को गतिशील देख अरस्तू ने यह मत व्यक्त किया था कि इन्हे गति प्रदान करनेवाली अदृश्य दैविक शक्तियाँ ही हो सकती हैं। यहाँ पृथ्वी पर प्राणी स्वयम् तो गतिशीलता प्राप्त कर ही सकते है, निष्प्राण वस्तुओं को भी प्रगमनकी शक्ति प्रदान कर सकते हैं। और प्रायः इस बात पर भी विद्वानों में मतैक्य था कि निष्प्राण पदार्थों में भी एक विशिष्ट प्रकार की गति स्वाभाविक है: उदाहरणार्थ पृथ्वी और जल स्वाभाविक रूप से ऊँचाई से नीचे की ओर गमन करते है और इसके विपरीत वायु और अग्नि ऊँचाई की ओर अग्रसर होते है। लेकिन इन कतिपय सरल, स्वाभाविक गतियों को छोड़ दूसरी सभी प्रकार की गतियाँ प्राणियों के अन्तःकरण से उद्भूत होती हैं।

गति और प्रगमन के सम्बन्ध में जब तक इस दृष्टिकोण को स्वीकृति मिलती रही तब तक एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में भौतिकी का अस्तित्व ही असम्भव था। भौतिकी जगत् एक स्वतन्त्र आत्म-शासित सृष्टि है यह सिद्धान्त ही तब तक अमान्य था। फिर दो बड़े वैज्ञानिक गैलीलियो और न्यूटन आये। इन्होंने अपने तर्क से यह सिद्ध कर दिया कि नक्षत्रों की और पृथ्वी के सम्पूर्ण जड़ पदार्थों की सब प्रकार की गतियाँ भौतिकी के नियमों पर आधारित है। और एक बार गति उत्पन्न होने पर वह अनिश्चित काल तक अनवरुद्ध चलती रहेगी। इस विचित्र व्यापार के लिये किसी प्रकार की चेतनता की आवश्यकता नहीं है। फिर भी न्यूटन का विश्वास था कि प्रारम्भिक गति प्रदान करने के लिये एक स्वतन्त्र स्रष्टा की आवश्यकता तो होगी ही। किन्तु जहाँ एक बार प्रगमन की क्रिया प्रारम्भ हुई कि फिर वह अपने ही नियमों से शासित और सञ्चालित सदैव चलती रहेगी।

डिस्कार्टेज का मत था कि केवल जड़ पदार्थ ही नहीं, प्राणवान् पशु शरीर भी 'भौतिकी' के नियमों से शासित हैं। संभवतः धर्मशास्त्र के विरोध के भय से ही उसने मनुष्यों को अपनी इस मर्यादा के बाहर रक्खा। अठा-

रहवीं शताब्दी में फ्रान्स के स्वतन्त्र चिन्तक एक कदम और आगे बढ़े। उनके मत में चेतन मन और जड़-पदार्थ के बीच जिस सम्बन्ध की अरस्तू ने कल्पना की थी वह उतना प्रामाणिक नहीं जितना कि विलोम सम्बन्ध प्रामाणिक था। अरस्तू ने अपने मत का प्रतिपादन करते हुए कहा था—प्रथम कारणों की उत्पत्ति चेतन-मन के अभाव में हो ही नहीं सकती : उदाहरणार्थ जब एक इंजिन चालक मालगाड़ी को गति प्रदान करता है तो उसकी मनोजात संकल्पना गाड़ी के एक डब्बे से दूसरे डब्बे की ओर अभिप्रेरित होती है। इसके विपरीत अठारहवी शताब्दी के पदार्थवादियों का मत था कि समस्त कारणों की उत्पत्ति पदार्थगत होती है और मानसिक व्यापार उसके अवश्यम्भावी परिणाम है।

३. हेतु के सिद्धान्त की अवच्युति

अरस्तू की मान्यता थी कि कारणों के चार प्रकार होते है। आधुनिक विज्ञान इनमें केवल एक को ही स्वीकार करता है। इन चारों में दो की चर्चा करना यहाँ अनावश्यक है। जिन दो से हमें प्रयोजन है वे है उपादान कारण और अन्तिम कारण। सरलता के लिए हम उपादान कारण को 'कारण' और अन्तिम कारण को उद्देश्य या हेतु की संज्ञा प्रदान करेंगे। मानव जीवन के कार्यकलापों में इस प्रकार का वर्गीकरण उपयोगी हो सकता है। उदाहरण के लिए किसी पहाड़ की चोटी पर हमें एक जलपान गृह निर्मित हुआ दिखाई देता है। इसका निमित्त कारण कहलायेगा जलपान की सामग्री, उसे चोटी तक पहुँचाने का कार्य और फिर उसे विधि-पूर्वक सजा कर रखने की क्रिया। अन्तिम कारण या प्रयोजन होगा यात्रियों की क्षुधा-पिपासा की निवृत्ति। मनुष्य-जीवन के क्रिया-कलापों में "क्यों" शब्द द्वारा किये जाने वाले प्रश्न का उत्तर अन्तिम कारण बतलाकर अधिक स्वाभाविक रूप मे दिया जा सकता है। निमित्त कारण बतलाकर सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता। अगर आप ऐसा प्रश्न करें—क्यों उस शिखर के ऊपर एक जलपान गृह की स्थापना की गयी ?—तो सरलता से उत्तर

मिलेगा—"इसलिये कि इस मार्ग से अनेक भूखे-प्यासे पथिक आया जाया करते हैं।" अन्तिम कारण प्रदर्शित कर दिया जाने वाला उत्तर उसी अवस्था में समीचीन प्रतीत होता है जहाँ मनुष्यों की संकल्पात्मक क्रियायें अन्तर्ग्रस्त रहती है। आप इस प्रकार प्रश्न करिये—"क्यों अनेक व्यक्तियों की कैन्सर के रोग से मृत्यु होती है ?" आप को प्रश्न का समाधान करने वाला स्पष्ट उत्तर नहीं मिलेगा। आप को जिस उत्तर की अपेक्षा है वह निमित्त कारण काज्ञान ।

'क्यों' शब्द में जो सन्दिग्धता छिपी हुई है उसके कारण ही अरस्तू ने उपादान कारण और अन्तिम कारण इस प्रकार का वर्गीकरण किया। उसने सोचा—जैसा आज भी अनेक लोग उसी प्रकार सोचते है—कि ये दोनों प्रकार सर्वत्र पाये जाते है। जिस किसी भी वस्तु का संसार में अस्तित्व है उसकी व्याख्या के लिये यह दुहरी विधि अपनाई जा सकती है—प्रथम तो यह कि किन पूर्ववर्ती घटनाओं के कारण उस वस्तु की उत्पत्ति हुई और दूसरी यह कि किस उद्देश्य की उसके द्वारा पूर्ति होती है। दार्शनिक और धर्मशास्त्रज्ञ दोनों ही निश्चित रूप से विश्वास करते हैं कि सभी सृष्ट वस्तुओं के पीछे कोई न कोई उद्देश्य छिपा हुआ है। हमारे लिये अब अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि विज्ञान के नियमों की खोज करने में संलग्न हमारे लिये "उद्देश्य" जैसी संकल्पना उपयोगी नहीं रह गई है। बाइबिल में एक स्थान पर कहा गया है कि चन्द्रमा की उत्पत्ति इसलिये हुई कि रात्रि में प्रकाश का उद्देश्य सिद्ध हो। लेकिन आज कोई भी वैज्ञानिक, चाहे वह कितना ही श्रद्धालु हो। चन्द्रमा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार की व्याख्या को कभी भी स्वीकार न करेगा। या, कैन्सर जैसे रोग का उदाहरण एक बार हम फिर लें। हमारे व्यक्तिगत विचार जो भी हों और भले ही हम यह विश्वास करें कि यह रोग हमारे दुष्कर्मों के लिए हमें दण्डित करने के लिये बनाया गया है, एक वैज्ञानिक की हैसियत से हम इस प्रकार की व्याख्या या इस प्रकार का मन्तव्य व्यक्त नहीं कर सकेंगे। मनुष्य के क्रिया-कलापों के पीछे एक प्रयोजन या उद्देश्य है

यह हम जानते हैं और हम चाहें तो दैवी प्रयोजनों की कल्पना भी हम कर सकते हैं लेकिन विज्ञान में तो हमारे लिये एक ही मार्ग है। वहाँ तो अतीत से वर्तमान का निर्माण होता है, भविष्य से अतीत का नहीं। अतः हम यह कहते है कि वैज्ञानिक व्याख्याओं में अन्तिम कारणों के लिये अवकाश नहीं है। इस वैज्ञानिक प्रसंग में हम कहेंगे कि डार्विन की खोज निश्चयात्मक थी। ज्योतिष के क्षेत्र में गैलीलियो और न्यूटन ने जो कार्य किया जैविकी या जीव-विज्ञान के क्षेत्र में वही कार्य डार्विन ने किया। १८वीं और १९वीं शताब्दी में भी धर्म-भीरु और श्रद्धालु वैज्ञानिकों के लिये प्राणियों और वनस्पतियों की परिस्थितियों के साथ अनुकूलन की प्राप्ति खोज का एक प्रिय विषय था। कई वैज्ञानिकों ने इस अनुकूलन को दैवी प्रयोजन के द्वारा समझाने का भी प्रयत्न किया।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कभी-कभी उनकी यह व्याख्या असंगत मालूम पड़ती है। अगर शशक धर्मशास्त्रों के आचार्य होते तो वे शायद ही इस बात के लिये भगवान् का गुणगान करते कि विस्रा को उनकी हत्या करने की अनुकूलता प्राप्त हुई है। और पट्टकृमि के सम्बन्ध में तो मानो सबने चुप रहने का षड्यन्त्र ही कर रखा हो। फिर भी जब तक डार्विन का आगमन नहीं हुआ, प्राणियों की अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की क्षमता प्राप्त करने की व्याख्या कठिन ही थी। एक सर्व शक्तिमान् स्रष्टा के अज्ञेय प्रयोजन के पीछे आश्रय लेने के अतिरिक्त किसी प्रकार की अन्य व्याख्या असम्भव थी। विकास की संकल्पना के कारण नहीं, बल्कि अस्तित्व बनाये रखने के लिये प्रकृति में होने वाले संघर्ष और उस संघर्ष में 'समर्थतम की विजय' के रूप में "अनुकूलन" की डार्विन ने जो नयी व्याख्या की उसके उपरान्त प्रयोजन की आवश्यकता नहीं रही। अनियमित और आकस्मिक परिवर्तन और नैसर्गिक चुनाव दोनों ही उपादान कारणों का महत्व स्वीकार करते हैं। यही कारण है जो कि अनेक लोग विकास के साधारण सिद्धान्त को तो स्वीकार करते हैं किन्तु डार्विन के उस विचार को नहीं मानते जिसके द्वारा उसने यह समझाने का प्रयत्न किया

कि यह सब किस प्रकार सम्भव हुआ। सैमुअल बटलर, बर्ग सौं, शॉ और लाइसेंको "प्रयोजन" को अपनी स्थिति से अवच्युत करने को तैयार नहीं हैं। लाइसेंको के लिये यह दैवी प्रयोजन नहीं बल्कि स्तालिनीय प्रयोजन है जिससे शीत ऋतु में होने वाले गेहूँ में वंशागति के सिद्धान्त का प्रतिपादन देखा जा सकता है।

४. ब्रह्माण्ड में मनुष्य की सही स्थिति

विज्ञान ने वैश्व संदर्भ में मनुष्य की वास्तविक स्थिति का जो दर्शन कराया है उसका प्रभाव दो विपरीत दिशाओं में हुआ है। इससे जहाँ मनुष्य एक ओर बहुत नीचे गिरा है, दूसरी ओर वह ऊपर भी उठा है। विश्व की विशालता और उसके विस्तार के सन्दर्भ में जहाँ उसकी नगण्यता सिद्ध हुई है, कार्य क्षमता और कुशलता की दृष्टि से वह गौरवान्वित भी हुआ है। उसका गौरव उसकी नगण्यता की तुलना में अत्यधिक महत्वपूर्ण है लेकिन दोनों का अपना स्वतन्त्र महत्व भी कम नहीं है। पहिले मैं विश्व के इस विस्तार और अनन्त के विचार की चर्चा करूँगा।

इस विचार को पूर्णतया हृदयंगम करने के लिये मैं आपसे दो पुस्तकों को साथ-साथ पढ़ने का अनुरोध करूँगा। प्रथम पुस्तक है दाँते की "डिवा-इन कौमेडी" और दूसरी है हुब्बल की—"नीहारिकाओं का संसार।" अपनी सक्रिय कल्पना की सहायता से और पूर्ण अभिग्रहण शक्ति द्वारा आप इन पुस्तकों को पढ़िये और फिर इन दोनों ग्रन्थों में जिस विश्व का चित्रण हुआ है उस पर विचार कीजिये। दाँते के महाकाव्य में पृथ्वी को विश्व का केन्द्र माना गया है; पृथ्वी के साथ समकेन्द्रित दस मण्डलों की कल्पना की गई है जो पृथ्वी की परिक्रमा करते हुए घूम रहे हैं? समस्त पापकर्मा मृत्यु के उपरान्त पृथ्वी के केन्द्र में पहुँचते हैं जहाँ उन्हें अपने दुष्कृत्यों के लिये दण्ड दिया जाता है; अपेक्षाकृत सुकृती व्यक्तियों को यरूशलम के दक्षिणी ध्रुव में स्थित प्रायश्चित्त शिखर पर तपने के बाद मुक्ति प्राप्त होती है; इन सुकृतियों में भी जो श्रेष्ठतर हैं, अपनी योग्यता के क्रम से अक्षय

आनन्द भोग के लिये उक्त दश मण्डलों मे से किसी एक में पहुँचते हैं। दाँते का कल्पित विश्व सुव्यवस्थित और परिमित आकार का विश्व है। महाकाव्य के इस विश्व मे चौबीस घण्टों मे सभी मण्डलों की यात्रा पूर्ण हो जाती है। मनुष्य को ध्यान मे रखते हुए इस विश्व की रचना हुई है। इसका एक ही लक्ष्य है : पाप का प्रायश्चित्त और सुकृत का पुरस्कार। इस विश्व मे न तो कोई दुर्भेद्य रहस्य है, न दुस्तर गहराइयाँ है और न यहाँ किसी प्रकार की गोपनीयताएँ है। इस सम्पूर्ण विश्व की तुलना हम एक गुड़िया घर से कर सकते है जिसमें गुड़ियों के स्थान मे स्त्री और पुरुष दिखाई देते है। फिर भी इतना हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इन स्त्री-पुरुषों को गुड़िया मानने पर भी उनका महत्व कम नही होता क्योंकि इस गुड़िया घर का जो स्रष्टा और स्वामी है उसका मनोरञ्जन इन्हीं स्त्री-पुरुषों द्वारा होता है। आधुनिक विज्ञान के विश्व की दाँते के उस परिमित विश्व से रञ्चमात्र भी कहीं समानता नहीं है। यह तो एकदम ही निराली सृष्टि है। जबसे कौपर-निकस के ज्योतिर्मण्डल को मान्यता प्राप्त हो गई तब से हम यह तो समझने ही लगे कि हमारी पृथ्वी इस वैश्व-सृष्टि का केन्द्र बिन्दु नहीं हो सकती। कुछ समय के लिये सूर्य को इस केन्द्रवर्ती स्थिति का गौरव मिला। लेकिन कुछ ही समय बाद मालूम हो गया कि हमारा यह जाज्वल्यमान सूर्य ताराओं के सम्राट् पद के योग्य तो क्या स्वयम् ही एक सामान्य मध्यम परिमाण का तारा है। इस वैश्व सृष्टि मे रिक्तता का इतना अधिक विस्तार है कि उर्बर से उर्बर मस्तिष्क की कल्पना उसके सामने लड़खड़ाने लगती है। सूर्य से निकटतम तारा ४·२ प्रकाश वर्ष की दूरी पर स्थित है या यों भी कह सकते हैं कि यह दूरी २५×१०^{१२} मील की है। यह भी तब जब कि हमारी पृथ्वी विश्व के अत्यन्त सघन क्षेत्र मे स्थित है। इस सघन क्षेत्र का नाम ही आकाशगंगा है। अकेली यही आकाशगंगा तीस हजार करोड़ ताराओं का समुदाय है। इस प्रकार की अभी तक तीन करोड़ आकाशगंगा की गणना की जा चुकी है इनमें यह केवल एक है। इस बात की पूरी सम्भावना है कि इस प्रकार के अनेक तारक-पुञ्जों का पता हमें अधिक शक्ति-

शाली दूरबीनों से लगता रहेगा। एक आकाशगंगा से दूसरी आकाशगंगा के बीच की औसत दूरी लगभग बीस लाख प्रकाश वर्ष है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि इन तारक-पुञ्जों के लिये पर्याप्त स्थान का अभाव है और वे एक दूसरे से दूर भागते जा रहे हैं। उनमें से कुछ तो चौदह-हजार मील प्रतिक्षण की गति से हमसे दूर होते जा रहे हैं। सबसे अधिक दूरी पर स्थित तारक-पिण्ड जिन्हे हम पृथ्वी से देख पाते है, विश्वास किया जाता है यहाँ से लगभग पचास करोड़ प्रकाश वर्ष की दूरी पर स्थित हैं, अर्थात् जैसा इस समय उन्हे हम देख रहे है वैसे वे पचास करोड़ प्रकाश वर्ष पूर्व थे। अब जरा हम इन ताराओं के भार के सम्बन्ध मे भी विचार करें। सूर्य का भार, गणित के अंकों में २×१०^{२७} टन है; आकाश-गंगा का भार सूर्य के भार से लगभग सोलह हजार करोड़ गुना अधिक है और हमारी यह आकाशगंगा उन तीन करोड़ में एक है जिनका अब तक पता लग पाया है। इस विशालता और विस्तार से ही हमारी कल्पना लड़खड़ा जाती है और इसके सामने मनुष्य के सर्वोपरि महत्व को स्वीकार करना सरल कार्य नहीं रह जाता।

यह तो हुई मनुष्य की इस विशाल सृष्टि के बीच वास्तविक स्थिति। अब मैं विचार करूँगा इस नवीन ज्ञान के व्यावहारिक पक्ष का।

जिन नीहारिकाओं का चित्र आज विज्ञान ने हमें दिखाया है उनका मनुष्य के लिये जरा भी व्यावहारिक उपयोग नहीं है उनके प्रति वह उदासीनता बरत सकता है। ज्योतिष के आचार्य उनका चिन्तन करते रहेंगे क्योंकि ज्योतिर्पिण्डों की गणना और चिन्तन ही तो उनकी अर्थ प्राप्ति का साधन है। साधारण मनुष्य क्यों इन प्रयोजनहीन और मूल्यहीन विषयों की चिन्ता से उद्विग्न हों? उनके लिए तो सबसे अधिक महत्व इस पृथ्वी का ही है और वह भी इसलिये कि वह पृथ्वी के स्वरूप को ही बदलने का प्रयत्न कर रहा है। विज्ञान के युग के मनुष्य संसार को एक नया रूप देने में आज समर्थ भी दिखाई देते हैं।

वैज्ञानिक युग के पूर्व शक्ति का एकमात्र अधिष्ठान ईश्वर ही था। अत्यंत अनुकूल परिस्थितियों में भी कुछ कर सकने की मनुष्य की सामर्थ्य सीमित थी और यदि कहीं मनुष्य के ऊपर देवताओं की अकृपा हो गई तब तो अनुकूल से अनुकूल परिस्थितियों को प्रतिकूल बनने में देर ही कितनी लगती थी। यह दैवी अकृपा भूकम्प, महाव्याधि, अकाल और सामरिक पराजय आदि के रूप में प्रकट होती थी। इस प्रकार की विपत्तियाँ उस युग में चूँकि निरन्तर होती ही रहती थीं इसलिये मनुष्य को भी देवताओं के क्रोध के प्रत्यक्ष दर्शन होते रहते थे। पृथ्वी के सम्राटों का दृष्टान्त लोगों के सामने था और उसी के आधार पर उनका निश्चित विश्वास बन गया था कि दैवी अकृपा का प्रधान कारण केवल एक ही हो सकता है और वह है मनुष्य में विनम्रता और श्रद्धा का अभाव। विनीत और श्रद्धावान बनने से ही जीवन यात्रा निरापद हो सकती है। निरन्तर ही हमारे मन में अपनी असहायता और निरुपायता का भान रहना चाहिये तभी हम श्रद्धालु बने रह सकते हैं। जिस परम शक्तिमान् ईश्वर के समक्ष मनुष्य ने अपनी क्षुद्रता स्वीकार की उसके स्वरूप की कल्पना भी मनुष्य के रूप में ही की गई। इसीलिये तो प्राग्-वैज्ञानिक युग की यह सृष्टि इतनी मानवीयता से भरी और इतना अपनापन लिये थी और इतनी सुखद और आकर्षक लगती थी। एक बड़े कुटुम्ब में रहते हुए एक छोटे बालक को जैसा अपना घर लगता है ठीक वैसा ही यह जगत् मनुष्य की दृष्टि में था। कभी-कभी यहाँ की कुछ बातें मनुष्य को पीड़ित अवश्य करती थीं लेकिन उस उत्पीड़न में भी एक प्रकार का अपनापन छिपा हुआ था। एकदम अमैत्रीपूर्ण व्यवहार के इस विश्व में कहीं भी दर्शन नहीं होते थे।

आज विज्ञान के इस नये संसार में सब कुछ ही तो बदल गया है। आज हम संसार को अपने अनुकूल बनाना चाहते हों या वस्तुओं को अपनी इच्छा से अभिप्रेरित करना चाहते हों तो इसके लिये न तो हमें प्रार्थना की आवश्यकता है और न श्रद्धा से नतमस्तक होने की। इसके लिये एक-

मात्र आवश्यकता है प्राकृतिक नियमों के ज्ञान की। इस ज्ञान द्वारा जो शक्ति हम आज प्राप्त कर सकते है वह उस शक्ति से कहीं अधिक विश्वसनीय और कई गुना प्रभावशाली है जो प्राचीन युग मे हमें प्रार्थना से उपलब्ध होती थी। प्रार्थना करने पर भी इस बात पर पूर्ण विश्वास नहीं होता था कि हमारी प्रार्थना उस अदृश्य देवतात्मा के कानों में पहुँचेगी ही, और उसे सुन वह दयार्द्र हो उठेगा, इसके अतिरिक्त प्रार्थना की भी तो अपनी सीमाएँ थीं। बहुत अधिक याचना करने पर भी तो देवताओं के क्रोध के भड़क उठने का भय था। अधिक याचना भी तो एक प्रकार की अश्रद्धा ही है। लेकिन आज विज्ञान की शक्ति की सीमाएँ इतनी दूर चली गई है कि दृष्टिगोचर नही होतीं। इस प्राचीन उक्ति को हम सभी ने सुना है—'विश्वास से पहाड़ भी अपने स्थान से खिसक जाते है।' लेकिन जिन्हें इस उक्ति पर पूर्व श्रद्धा हो ऐसे कितने लोग मिलेंगे। आज जब हमसे कहा जाता है कि परमाणु शक्ति के द्वारा पहाड़ों को अपने स्थान से हटाया जा सकता है तो हम सरलता से विश्वास कर लेते हैं।

यह भी सच है कि अगर आज थोड़ी देर के लिये हम सृष्टि के सम्बन्ध मे विचार करने बैठें तो भयभीत हो उठते हैं। किसी समय इस सूर्य की उष्णता का अन्त हो जायेगा। यह भी सम्भव है कि शान्त होने के पूर्व ही जीवन का आधार यह सूर्य सहस्रधा खण्डित होकर बिखर भी सकता है; पृथ्वी के वायुमण्डल का भी कभी क्षय हो सकता है जिसके परिणाम स्वरूप पृथ्वी पर प्राणियों के जीवन का विनाश ही होगा। वह वस्तु जिसे हमने 'जीवन' की संज्ञा दे रखी है इस अनन्त विश्व के एक अज्ञात कोने मे सकुची-सिमटी पड़ी हुई है और उसके अस्तित्व की अवधि अत्यन्त सीमित और उसका परिणाम भी सुनिश्चित है। यह इतनी बड़ी महत्वपूर्ण वस्तु भी नहीं है कि उसके सम्बन्ध में व्यर्थ का विवाद उठाया जाय। लेकिन चूँकि हमारा इसी 'जीवन' से घनिष्ठ सम्बन्ध है इसलिये हम इसकी चर्चा कैसे छोड़ सकते हैं। वैज्ञानिक हमसे कहेगा—इस प्रकार का निरर्थक

और नैराश्य पूर्ण चिन्तन क्यों करते हो ? मठों और बिहारों में रहने वाले एकान्तसेवी साधक भले ही ऐसा करें, व्यावहारिक जगत् में रहनेवाले व्यक्तियों को इससे क्या लाभ ? हमें तो निष्प्राण मरुस्थल को उर्वरा भूमि में परिणत करना है; ध्रुव प्रदेश के बर्फीले समुद्रों को द्रवित करना है और राष्ट्रों के संहार के लिये नई-नई विधियों का आविष्कार कर भीषण रूप से घातक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करना है। हमारे कुछ कार्य कल्याणकारी होंगे तो कुछ विनाशकारी भी होंगे लेकिन दोनों के द्वारा विज्ञान की सामर्थ्य ही प्रकट होगी और निरीश्वर इस सृष्टि में हम वैज्ञानिक ही स्रष्टा का रिक्त आसन ग्रहण करेंगे।

डार्विन की गवेषणा ने जीवन और संसार के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण को प्रभावित किया है—और जैसा मैं अभी कह चुका हूँ, ईश्वरीय प्रयोजन के लिये विश्व की रचना मे अवकाश नहीं रखा है। मनुष्य और बन्दर के बीच विभाजन की जिस स्पष्ट रेखा को विज्ञान ने मिटा दिया है उसके कारण धर्मशास्त्र की स्थिति दयनीय हो गयी है। मनुष्य के शरीर में आत्मा का प्रवेश किस काल में हुआ ? बन्दर और मनुष्य के बीच की स्थिति वाले प्राणी के लिये क्या पाप और पुण्य की परिभाषा का कुछ महत्व हो सकता था ? क्या उसके लिये, गर्हित कृत्य करने पर, नरक के दण्डविधान का औचित्य सिद्ध किया जा सकता है ? क्या पाँवों के बल सीधे खड़े होने वाले उस वानर–मनुष्य के ऊपर किसी प्रकार का नैतिक उत्तरदायित्व थोपा जा सकता है ? क्या उस अर्धविकसित मानव का जीवन अभिशप्त कहा जा सकता है ? पिल्टडाउन की स्थिति के मानव के लिये क्या स्वर्ग का दरवाजा खुला हो सकता था ? इन प्रश्नों का जो भी उत्तर हम देंगे उसे समाधानात्मक तो किसी भी प्रकार नहीं कह सकते।

लेकिन डार्विन की विचारधारा ने, विशेषतः उस अवस्था में जब कि उसका संकुचित अर्थ तोड़-मोड़ कर लगाने के प्रयत्न हुए न केवल धर्म की बुनियाद को हिला दिया, उसके कारण अठारहवीं शताब्दी के उदारवादी

दर्शनशास्त्री भी आशंकित हो गये। कोन्दोर्से को हम अठारहवीं शताब्दी के उदारवादी दर्शनशास्त्र का प्रमुख विचारक कह सकते हैं। माल्थुस ने कुछ और स्पष्ट चिन्तन कर कोन्दोर्से का खण्डन किया और डार्विन को इस खण्डन में अपने विचारों के लिये अच्छा आधार मिल गया। उदारवादी विचारधारा वालों के लिये भी मनुष्य की महत्ता उतनी ही थी जितनी धर्मशास्त्रियों के लिये थी। 'मनुष्य के अधिकारों' में उनका विश्वास था; समानता में उनकी आस्था थी; और यदि एक व्यक्ति में दूसरे की अपेक्षा अधिक प्रतिभा दिखाई देती थी तो इसका कारण उनके मत से यही हो सकता था कि उसे शिक्षा के लिये अधिक अच्छा अवसर प्राप्त हुआ होगा। जेम्समिल ने अपने लड़के को यही बात समझाई थी।

एक बार हम फिर अपने उसी प्रश्न पर आते है अगर आज कहीं वह कल्पित वानर-मनुष्य जीवित पाया जाय तो क्या हम उसे "मनुष्य के मौलिक अधिकार" प्रदान कर सकेंगे? या कहीं वह वानरी स्थिति से कुछ अधिक ऊँचा उठा हुआ मानव यदि कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में शिक्षा पाता तो न्यूटन के बौद्धिक स्तर को पा सकता? पिल्टडाउन के प्राग्-ऐतिहासिक मनुष्य में क्या उतनी बुद्धिमत्ता हो सकती थी जितनी आज के ससेक्स गाँव के साधारण निवासियों में पाई जाती है? जनतन्त्र के आदर्शों से प्रभावित हो यदि अपने इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न किया तो हम आपको उससे भी प्राचीन युग के मनुष्य के उस पूर्वज तक ले जायेंगे जो अपनी वानरी स्थिति से विकसित नहीं हुआ था, और यहीं क्यों, हम और भी प्राचीन युग में पहुँचकर आपसे यही प्रश्न करेंगे। तब भी क्या आप इसी प्रकार उत्तर दे सकेंगे? यूक्लिड के शब्दों में यह अनर्गल प्रलाप से अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। इसलिये आपके लिये यही उचित होगा कि आप स्वीकार कर लें कि जन्म से मनुष्यों में समानता नहीं होती और प्रकारान्तर और व्यतिक्रम के माध्यम से ही विकास की गति आगे बढ़ती है। आपको स्वीकार करना ही पड़ेगा कि एक स्वस्थ युवा के निर्माण में वंशा-

गति का महत्व होता है। केवल शिक्षा द्वारा ही इतना बड़ा विभेद नहीं हो सकता। यदि मनुष्यों को राजनीतिक दृष्टि से समानता प्रदान की गई है तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जीव-विज्ञान की दृष्टि से मनुष्यों में समानता है।

राजनीतिक समानता के पीछे विशिष्ट राजनीतिक उद्देश्य छिपा हुआ है। इस प्रकार के चिन्तन ने 'राजनीतिक औदार्यवाद' को दलदल में फंसा दिया, यद्यपि मेरे विचार में इसके लिए कोई न्याय्य आधार नहीं है।

लेकिन यह स्वीकार करना कि जन्म से सभी मनुष्य समान नहीं है विनाशकारी सिद्धान्तों के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकता है, विशेषतः उस अवस्था में जब कि हम मनुष्यों के किसी समुदाय विशेष को दूसरों की अपेक्षा महत्तर या हीनतर समझने की भूल कर बैठते हैं। उदाहरण के लिए, यदि इस प्रकार के तर्क के द्वारा हम कहने लगें कि धनी निर्धनों से, पुरुष स्त्रियों से, गौरवर्णवाली जातियाँ काले वर्णवाली जातियों से, या जर्मन जाति संसार की किसी भी दूसरी जाति से श्रेष्ठ है तो हम एक ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन करने लगेंगे जिसे डार्विन की विचारधारा का कहीं भी समर्थन प्राप्त न हो सकेगा। इतना ही नहीं, इस प्रकार का तर्क हमें विनाशकारी युद्ध या दासता की दिशा में ही ले जा सकता है, यहाँ इतना कह दें कि इस प्रकार के अनेक प्रवाद जिनका डार्विन से जरा भी सम्बन्ध नहीं है, डार्विन के नाम पर फैले हुए हैं। डार्विन के नाम पर कितनी बार इस अमानवीय और क्रूर सिद्धान्त का प्रचार किया गया है कि 'दुर्बल और अशक्त प्राणी का विनाश तो प्रकृति का और प्रगति का एक मात्र नियम है।' इस विचार के समर्थक कहते हैं—'यदि जीवन के क्रूर संघर्ष द्वारा ही मनुष्य जाति की प्रगति संभव है तो हमें युद्धों का स्वागत करना चाहिए। जितने ही अधिक विनाशकारी युद्ध हों उतना ही अच्छा। और हमारा ध्यान फौरन ही उस दार्शनिक हेराक्लाइटस की ओर जाता है जो शायद संसार का प्रथम साम्राज्यवादी था। उसने उच्च स्वर से घोषणा की—"होमर का कथन

सर्वथा असंगत और भ्रान्त है और उसमें कायरता ही व्यक्त होती है। होमर ने मनुष्य समाज से युद्धों का बहिष्कार करने की जो कामना की वह एक कायर व्यक्ति की कामना थी। होमर इतना भी न समझ पाया कि युद्धों के अभाव में समाज का अभ्युत्थान नहीं पतन ही हो सकता है। प्रकृति के विशाल साम्राज्य में कहाँ है वह स्थल जहाँ अखण्ड शान्ति पाई जाती है। युद्ध ही एकमात्र सत्य है और संघर्ष ही एक मात्र न्याय। युद्ध ही एक मात्र स्रष्टा और सम्राट् है। युद्ध ने ही किसी को देवता, किसी को मनुष्य, किसी को दास और किसी को मुक्त बनाया है.....।"

कितनी बड़ी विडम्बना होगी मनुष्य जाति के लिए यदि विज्ञान का अन्तिम फल इस रूप में प्रकट हो और ५०० ई० पू० के दार्शनिक के सिद्धान्तों की पुन स्थापना होने लगे। नीत्से या नाजियों के उत्कर्ष के युग में इस सिद्धान्त को भले ही मान्यता मिली हो, लेकिन वर्तमान काल में इसे कोई स्वीकार न करेगा। सत्य तो केवल इतना ही है कि विज्ञान ने मनुष्य को अत्यधिक शक्तिशाली बनने का अवसर प्रदान किया है। लेकिन यह संभव हुआ है विज्ञान की प्रविधियों के द्वारा न कि विज्ञान के दर्शन-शास्त्र से। इस परिच्छेद मे मैंने विज्ञान के दर्शन की परिधि में ही अपने वक्तव्य को सीमित रखा है। विज्ञान की प्रविधियों का उल्लेख मैं आगामी परिच्छेदों में करूँगा। इन प्रविधियों पर विचार करने के उपरान्त मैं पुनः मानवीय शक्ति की संभावनाओं के दर्शन शास्त्र की चर्चा करूँगा जिसकी ओर विज्ञान की प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। इस दर्शन शास्त्र को स्वीकार करना मेरे लिए संभव नहीं होगा क्योंकि मेरी दृष्टि में यह अत्यन्त भयावह है। लेकिन इस विषय की चर्चा मैं यहीं पर समाप्त करता हूँ।

●

अध्याय दो

वैज्ञानिक प्रविधियों के सामान्य प्रभाव

अरबों के समय से लेकर आज तक विज्ञान के दो ही प्रयोजन रहे हैं। प्रथम, इसके द्वारा हम किसी वस्तु के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करते हैं; द्वितीय, यह हमे कार्य करने की सामर्थ्य प्रदान करता है। आर्कमिडीज को छोड़ यूनानी लोग विज्ञान के प्रथम प्रयोजन में ही दिलचस्पी रखते थे। संसार के रहस्यों के सम्बन्ध मे उनके मन में बड़ी जिज्ञासा थी और कौतूहल भी था; लेकिन यूनान के सम्भ्रान्त नागरिक अपने दासों के परिश्रम पर आराम का जीवन बिताया करते थे इसलिए विज्ञान की प्रविधियों में उन्हें जरा भी दिलचस्पी नहीं थी। विज्ञान के व्यावहारिक उपयोगों के प्रति उत्सुकता तब बढ़ने लगी जब अन्धविश्वास और मन्त्र-अभिचार आदि की वृद्धि हो गयी। अरबवासियों ने पारस पत्थर, चिर जीवन प्रदान करने वाले अमृत और निकृष्ट धातुओं को स्वर्ण में रूपान्तरित करने का रहस्य प्राप्त करना चाहा। इन प्रयोजनों को सामने रख उनकी खोज प्रारम्भ हुई और रसायन विज्ञान के अनेक बहुमूल्य सूत्र उनके हाथ लग गये। लेकिन यह नहीं कह सकते कि उन्होंने सुनिश्चित, महत्वपूर्ण, सामान्य और

सार्वभौम सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उनकी गवेषणाएँ अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही थीं।

किन्तु मध्यकालीन युग की समाप्ति होते-होते दो ऐसी महत्वपूर्ण खोजें हुईं जिनके दूरव्यापी परिणाम निकले : पहिली थी बारूद की खोज और दूसरी, कुतुबनुमा का आविष्कार। किन अज्ञात व्यक्तियों ने ये आविष्कार किये इनका अभी तक पता नहीं लग पाया है। इतना तो निश्चित ही हो गया है कि रोजर बेकन द्वारा ये आविष्कार नहीं हुए थे।

बारूद के आविष्कार का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि इससे केन्द्रीय शासन की शक्ति में वृद्धि हुई और विद्रोही भूमिपतियों के दमन का उपाय उनके हाथ आ गया। सम्राट् जौन के पास अगर ये आग्नेय अस्त्र होते तो निश्चय ही उसकी प्रजा अधिकार-पत्र पर उससे हस्ताक्षर नहीं करवा पाती। हम सम्राट् की निरंकुशता का पक्ष नहीं लेते, न हमें भूमिपतियों से ही विरोध है। फिर भी इतना तो कहेंगे ही कि मध्यकालीन इतिहास में सर्वत्र अराजकता फैली हुई थी। उस युग की प्रधान आवश्यकता थी व्यवस्था की, और कानून के प्रति सम्मान की भावना की। सम्राट् के द्वारा ही इन उद्देश्यों की प्राप्ति की जा सकती थी। भूमिपतियों के अपने सुदृढ़ दुर्ग थे और वही उनकी शक्ति के अवलम्ब थे। बारूद के आविष्कार ने इन सुदृढ़ दुर्गों की नींव कमजोर कर दी। बारूद के आविष्कार से ही ट्यूडर वंश के शासक पूर्ववर्ती राजाओं की तुलना में कहीं अधिक शक्तिशाली बन गये। इंगलैण्ड की ही भाँति फ्रान्स और स्पेन में भी शक्ति सम्राटों के हाथ में आ गई। आज राज्य की जिस सर्व-व्यापी शक्ति के दर्शन होते हैं वह १५ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के अन्तिम चरण में बारूद के आविष्कार से ही सम्भव हुई। तबसे लेकर आज तक राज्य की शक्ति निरन्तर बढ़ती आई है और इस वृद्धि का एक मात्र कारण है संहारक अस्त्रों की प्रविधियों में सुधार। अस्त्रों की विनाशकारी शक्ति के विकास की ओर हेनरी सप्तम, ११ वें लुई फर्डिनेन्ड और इजाबेला आदि शासकों ने विशेष रूप से ध्यान दिया और इसीलिये वे अधिक सफल हुए।

कुतुबनुमा का आविष्कार भी इतने ही महत्व का सिद्ध हुआ। वास्तव में तो इसके बाद ही नवयुग का श्रीगणेश हुआ; गौर वर्ण की उपनिवेशवादी जातियों के लिये नई दुनियाँ की विजय का मार्ग प्रशस्त हो गया। आशान्तरीप के मार्ग से पूर्व की ओर भारत की विजय इस यन्त्र के कारण ही सम्भव हुई। इसी के कारण यूरोप और चीन के बीच सम्पर्क स्थापित हुआ। सामुद्रिक शक्ति का महत्व सौगुना हो गया और पश्चिमी यूरोप की जातियों ने पृथ्वी को ही आक्रान्त कर अपने अधिकार में ले लिया। इतने दिनों के बाद २०वी शताब्दी में अब इस विजय का उपसंहार हो रहा है। वैज्ञानिक प्रविधियों के क्षेत्र में इतने महत्व के अनुसन्धान लम्बी अवधि के बाद प्रारम्भ हुए। वाष्प शक्ति की खोज होने के साथ ही हम औद्योगिक क्रान्ति के वर्तमान युग में प्रवेश करते हैं। पिछले ही सात वर्षों में परमाणु बम के विस्फोट से अब यह आशंका होने लगी है कि कहीं वैज्ञानिक प्रविधियों की यह अबाधगति सृष्टि का विनाश ही न कर बैठे। लेकिन यह स्थिति अपरिचित नहीं है। जब औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ हुआ तो इंगलैण्ड और अमेरिका के लोगों ने जो संकट झेले उनका बर्णन नहीं किया जा सकता। मैं समझता हूँ कि अर्थशास्त्र से परिचित विद्यार्थी मेरे इस कथन को मान लेंगे कि १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में इंगलैण्ड के निवासियों की सम्पन्नता उससे सौ वर्ष पहिले की तुलना में बहुत ही कम थी और इसका एकमात्र कारण था विज्ञान की नई प्रविधियों का प्रारम्भ।

उदाहरण के लिये हम कपास को लेते हैं जो प्रारम्भिक औद्योगिक विकास में महत्व का स्थान रखता है। लंकाशायर की सूती मिलों में (जहाँ मार्क्स और ऐंगल्स की आजीविका चलती थी) छोटे-छोटे बच्चों को बारह से सोलह घण्टे प्रतिदिन काम करना पड़ता था। प्रायः छह सात वर्ष की उम्र से ही ये अल्प वयस्क बालक मिलों में काम करने लगते थे। काम करते हुए जब उन्हें कभी नींद सताने लगती और वे झूमते हुए गिर पड़ते, तब अत्यन्त निर्ममता से उनकी ताड़ना की जाती थी। शारीरिक दण्ड के

बावजूद भी कितने ही बालक नींद को भगा सकने में असमर्थ, संयत्रों के चक्रों के बीच मे गिर पड़ते थे और या तो तुरन्त मृत्यु के मुख मे पहुँच जाते थे या सदा के लिये पंगु हो जाते थे। माता-पिता की आर्थिक दशा इतनी शोचनीय होती थी कि इन बर्बर अत्याचारों को चुपचाप सहन करने के अतिरिक्त दूसरा चारा ही न था। हस्तकला के उद्योगों में लगे हुए कारीगरों को नवीन संयन्त्रों ने बेरोजगार कर दिया था; ग्रामीण क्षेत्र के मजदूरों को परिसीमन कानूनों के कारण गाँव छोड़ नगरों की ओर आना पड़ा; धनी भूमिपति अधिक सम्पन्न होते गए और साधारण कृषकों की स्थिति भिखारियों की सी होती गई। १८२४ तक श्रमिकों को अपने संगठन बनाने के अधिकार प्राप्त नहीं थे। शासन अपने एजेन्टों को भेज मजदूरों की क्रान्तिकारी भावनाओं को कुचलने का प्रयत्न करता रहता था। क्रान्तिकारियों को या तो देश निर्वासन का दण्ड दिया जाता था या मृत्युदण्ड। संयन्त्रों के आविष्कार के अमानवीय परिणाम इस प्रकार इंगलैंड मे प्रकट हुए। इसी काल में संयुक्तराज्य अमेरिका में इससे भी बढ़-चढ़ कर विनाशकारी परिणाम लोगों को भुगतने पड़े। स्वतन्त्रता के युद्ध की अवधि में और युद्ध की समाप्ति के कुछ वर्ष बाद तक अमेरिका के दक्षिणी राज्य दास प्रथा को एक निश्चित अवधि के भीतर समाप्त करने की बात मानने को तैयार हो गये थे। १७८७ में उत्तर और पश्चिम के राज्यों ने एकमत हो दासता का अन्त कर दिया। जैफरसन को पूर्ण आशा थी और आशा के लिये पर्याप्त कारण भी थे कि इस कलंक का दक्षिणी राज्यों में भी अन्त हो जायेगा। लेकिन १७९३में व्हिटनी ने जिस यन्त्र का आविष्कार किया उसके द्वारा एक हब्शी एक दिन में ५०पौंड कपास साफ करने लगा। इस आविष्कार के पूर्व एक दिन में एक पौंड से अधिक कपास साफ नहीं हो पाता था। "श्रम से मुक्ति" दिलाने वाली इन मशीनों के कारण इंगलैण्ड के बच्चों को १५ घण्टे रोज कड़ी मेहनत करनी पड़ी थी; इन्हीं मुक्तिदायक संयन्त्रों के बाद अमरीका के दासों को इतना अधिक श्रम करने के लिये विवश किया जाने लगा जितना पहिले कभी भी नहीं किया जाता था। १८०८ में

दासों के क्रय विक्रय की प्रथा का जब उन्मूलन हुआ तब रुई के उत्पादन में जो अभूतपूर्व वृद्धि हुई उसका कारण यह था कि निकटवर्ती दक्षिणी राज्यों से, जहाँ कपास कम उपजती थी हब्शी मजदूर बुलाये जाने लगे। बिलकुल दक्षिणी भाग मे जो अत्यन्त अस्वास्थ्यकर प्रदेश थे कपास के खेतों में दास मजदूरों से निर्ममता पूर्वक काम लिया जाता था। इस प्रकार निकटवर्ती दक्षिणी राज्यों के गुलाम सुदूर-दक्षिणी राज्यों के कपास के बड़े व्यापारियों के लाभ मे कई गुना वृद्धि कर अपने लिए मानो मृत्यु ही बुला लेते थे। इस दास-व्यापार का एक और भी घृणित पहलू था—कोई भी गौर वर्ण का व्यक्ति अपने पास की दास स्त्रियों से सन्तान उत्पन्न कर उन बच्चों को किसी भी व्यक्ति के हाथ बेचने के लिये स्वतन्त्र थे। दक्षिणी राज्यों मे मलेरिया रोग, पाण्डु रोग और कृमि रोगों से आक्रान्त इन नये दासों की कम उम्र में ही मृत्यु हो जाती थी।

इन्हीं सब दूषित प्रथाओं का परिणाम गृह-युद्ध के रूप में प्रकट हुआ। यदि रुई का उद्योग विज्ञान की सहायता के बिना ही चलता रहता तो अमेरिका का गृह-युद्ध सम्भवतः कभी भी न होता।

दूसरे महाद्वीपों में भी इन यन्त्रों के अनेक प्रभाव हुए। रुई के व्यापार के लिये भारत और अफ्रीका के बाजारों की तलाश हुई। ब्रिटिश साम्राज्यवाद को इससे प्रोत्साहन मिला। अफ्रीका के निवासियों को समझाया जाने लगा कि बिना वस्त्रों के इधर-उधर फिरना एक बड़ा कलंक है। गोरे धर्म प्रचारकों ने इस बात को समझाने में मुख्य भाग लिया। रुई के वस्त्रों के साथ-साथ हमने इन महाद्वीपों के लिये अनेक प्रकार के गुप्त रोगों का और तपेदिक जैसी बीमारियों का भी निर्यात किया, और इसके लिये तो वहाँ के निवासी मुफ्त में ही हमारे ऋणी है।

मैंने रुई के उदाहरण का ही यहाँ विशेष रूप से उल्लेख किया है क्यों कि मैं इस बात को अच्छी तरह समझाना चाहता हूँ कि विज्ञान की प्रविधि अपनाने से जो दुष्परिणाम होते हैं उनसे बचा नहीं जा सकता। समय आने

पर इनमें से अनेक बुराइयों का अन्त भी हो गया। इंगलैंड में बच्चों से श्रम लेना कानूनन निषिद्ध कर दिया गया; अमेरीका में दास-प्रथा का अन्त हो गया; और अब भारत में भी साम्राज्यवाद की समाप्ति हो गई है। अफ्रीका में जिन अनेक बुराइयों की होड़ लगी है उनका भी अब रुई के उद्योग से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है।

भाप ने, जो औद्योगिक क्रान्ति का एक प्रमुख और अविच्छेद्य अंग रहा है यातायात को अपना विशेष कार्यक्षेत्र बनाया। बड़े-बड़े सामुद्रिक जहाज और रेलगाड़ियों में इस वाष्पीय शक्ति का उपयोग होने लगा। इस शक्ति के उपयोग से यातायात प्रणाली का जो पूर्ण विकास हुआ उसके प्रभाव १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रकट हुए। इनके कारण अमेरिका के मध्य-पश्चिम के भीतरी दरवाजे खुल गए और वहाँ का अनाज इंगलैंड और नवीन इगलैण्ड की औद्योगिक बस्तियों के पोषण के लिये काम आने लगा। इससे इँगलैण्ड में सर्वत्र समृद्धि दिखाई देने लगी। विक्टोरिया के शासन काल में जो प्रसन्नता, आशा और उल्लास का देश में वातावरण दिखाई देने लगा उसका मुख्य कारण यातायात प्रणाली का विकास ही था। इसी के फल-स्वरूप सभ्य कहलाने वाले देशों में तेजी से जनसंख्या में वृद्धि होने लगी। सभ्य देशों में केवल फ्रांस इस प्रभाव से बचा रहा क्योंकि वहाँ नैपोलियन का विधान प्रचलित था। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारियों में समान रूप से विभक्त हो जाती थी। इसीलिये फ्रान्स में अधिकांश लोग साधारण स्थिति के किसान थे और उनका छोटे-छोटे भूमिखण्डों पर ही अधिकार था।

यह विकास उन बुराइयों से मुक्त रहा जिनका प्रारम्भिक-औद्योगिकी के युग में दर्शन हुए थे। मेरे विचार में इस मुक्ति का कारण यह था कि तब तक दासता का अन्त हो चुका था और जनतन्त्र की नींव मजबूत हो चुकी थी। इस काल में भी आयरलैण्ड के कृषक और रूस के दास-कृषक उत्पीड़ित होते रहे क्योंकि वे अभी तक स्वतन्त्र नहीं हुए थे। रुई के कारखानों

में काम करने वाले श्रमिक शायद अपने कष्टों से मुक्त नहीं हो पाते लेकिन कौब्डन और ब्राइट के कारण इंगलैण्ड के भूमि स्वामियों की एक न चली।

वैज्ञानिक प्रविधियों की प्रगति में दूसरा महत्त्वपूर्ण मोड़ उस समय आया जब विद्युत्, तेल और अन्तर्ज्वलन वाले इंजिनों का युग प्रारम्भ हुआ। शक्ति के रूप मे, कारखानों में काम आने के बहुत पहिले से ही, बिजली का उपयोग तार-संचार व्यवस्था में होने लगा था। इसके दो महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए : पहिला अब मनुष्य के स्थान पर अधिक द्रुत गति से समाचार भेज सकना सम्भव हो गया। दूसरा, विस्तृत संगठनों और संस्थानों का किसी एक केन्द्र से सरलता से नियन्त्रण करना सम्भव हो गया।

समाचार प्रेषण में जो यह क्रान्तिकारी परिवर्तन आया वह पुलिस विभाग के लिये बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। तार व्यवस्था के आविष्कार के पूर्व कोई भी डाकू या लुटेरा शीघ्रगामी घोड़े की पीठ पर सवार हो किसी सुरक्षित स्थान में पहुँच दण्ड से बच सकता था। फिर उसे पकड़ पाना अत्यन्त दुःसाध्य कार्य होता था। इसे दुर्भाग्य कहे या सौभाग्य कि अनेक बार, उन व्यक्तियों के द्वारा जिन्हे गिरफ्तार करने पुलिस लगी रहती है, मानव समाज का महान् हित साधन हुआ है। प्राचीन काल में अगर तार व्यवस्था का आविष्कार हो गया होता तो पोलीक्रेटीज के द्वारा पाइथागोरस पकड़ लिया जाता और एथेन्स की सरकार अनाक्सागोरस को पकड़ कर अवश्य ही मृत्यु दण्ड देती; पोप के चंगुल से विलियम औफ ओसम का शायद ही छुटकारा होता और पिट के चंगुल से बचकर टौमपेन १७९२ में फ्रांन्स की भूमि तक न पहुँच पाता। २० वीं शताब्दी में वर्तमान काल में ही न जाने कितने योग्यतम व्यक्ति रूस और जर्मनी में हिटलर और स्तालिन की क्रूरता के शिकार हुए हैं। अगर तार की प्रणाली नहीं होती तो न जाने कितने ही उनमें अभीतक जीवित होते। इस व्यवस्था ने जो पुलिस को अत्यन्त सक्षम बना दिया है उसे हम असन्दिग्ध रूप से लाभ नहीं कह सकेंगे।

किसी एक केन्द्र से दूर-दूर स्थित संस्थानों और संगठनों का नियन्त्रण इस आविष्कार का दूसरा महत्त्वपूर्ण परिणाम सिद्ध हुआ। प्राचीन काल में दूरस्थ प्रान्तों के राज्यपाल या क्षत्रिय इच्छानुसार विद्रोह कर उठते थे और केन्द्रीय शासन को जब तक सूचना मिल पाती थी तब तक वे अपनी स्थिति काफी सुदृढ़ कर लेते थे। जब कौन्स्टेन्टाइन ने यौर्क नगर में अपने को सम्राट् घोषित कर रोम की ओर प्रस्थान किया तो वहाँ के अधिकारियों को इसकी सूचना तब लग पाई जब कि वह नगर की प्राचीर के पास पहुँच चुका था। यह भी सम्भव है कि अगर उस काल मे तार की व्यवस्था हो गई होती तो पश्चिमी संसार मे ईसाई धर्म का प्रसार न हो पाता, १८१२ के युद्ध में, सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर होने के बाद भी न्यू और्लिएन्ज में सेनाओं की मुठभेड़ हो गई क्योंकि सेनाओं के अधिकारियों को शीघ्रता से सन्धि की सूचना नहीं मिल पाई थी। तार के आविष्कार के पूर्व विदेशों में स्थित राजदूतों को कितनी अधिक स्वतन्त्रता मिली हुई थी। अब यह सर्वथा समाप्त हो चुकी है। उन दिनों संकट आ पड़ने पर उन्हें काम करने की स्वतन्त्रता दिये बगैर दूसरा उपाय ही नहीं था।

केवल शासन व्यवस्था मे ही नहीं उन सभी संगठनों में जिनका दूर-दूर तक विस्तार था तार के आविष्कार ने आमूल-परिवर्तन कर दिया। "हैकल्यूट की समुद्र यात्राओं का वर्णन" पढ़ने से इन परिवर्तनों को आप और भी स्पष्टता से समझ सकेंगे। उक्त ग्रन्थ में हम इंगलैण्ड के वणिक् समाज के उन प्रयत्नों के बारे में पढ़ते हैं जो उसने रूस के साथ व्यापार करने के लिये किये थे। उन दिनों महारानी एलिजाबेथ का शासन था और वे इतना ही कर सकते थे कि एक उत्साही और कुशल दूत का चुनाव कर; उसे अभिकर्त्ता के समस्त अधिकार, विक्रय सामग्री और धन देकर बिदा करते। इसके उपरान्त जो कुछ भी करना होता उसका दायित्व उस दूत को सौंपने के अतिरिक्त और उपाय ही क्या था। एक बार बिदा होने के बाद लम्बी अवधि के उपरान्त ही अपने देश के व्यापा-

रियों से वह सम्पर्क स्थापित कर पाता था। इंगलैण्ड से भेजे हुए निर्देश उसके पास पहुँचते-पहुँचते बहुत पुराने हो जाते थे। तार की व्यवस्था ने ही केन्द्रीय सरकार की शक्ति बहुत बढा दी। दूरस्थ प्रान्तों मे नियुक्त अधिकारियों की स्वतन्त्रता छिन गई। केवल शासन मे ही नहीं, उन सभी संगठनों में जिनका सार्वदेशिक प्रसार था केन्द्र का नियन्त्रण बढ़ने लगा। आगे भी हम देखेंगे कि वैज्ञानिक प्रविधि का यह अनिवार्य प्रभाव हुआ करता है। परिणाम स्वरूप कम से कम आदमियों के हाथ मे शक्ति संचित हो जाती है और उनकी शक्ति परिमाण मे इतनी अधिक होती है जितनी पूर्वकाल मे कभी भी नहीं हो सकती थी। रेडियो प्रसारणों के आविष्कार ने अब उस कार्य को लगभग पूर्ण कर दिया है जिसका तार व्यवस्था से प्रारम्भ हुआ था।

तार की तुलना में शक्ति के रूप में बिजली का उपयोग अभी हाल ही की घटना है। इस कारण इसके सर्वाङ्गीण प्रभावों का सही मूल्यांकन करना सम्भव नहीं है। विद्युत् के आविष्कार मे शक्ति-संस्थानों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया है। इनके कारण सामाजिक संगठनों की एक अनिवार्य प्रवृत्ति केन्द्रीकरण की ओर दिखाई देती है। स्विफ्ट के उपन्यास में 'लापुटा के दार्शनिक शासक' किसी भी विद्रोही प्रदेश को आत्म समर्पण करने पर विवश कर सकते थे। उनके पास एक शक्तिशाली अस्त्र था—उनका तैरने वाला द्वीप। इस द्वीप को वे विद्रोही प्रदेश और सूर्य के प्रकाश के बीच खड़ा कर उसे अन्धकाराच्छन्न कर सकते थे। लगभग इसी प्रकार की सामर्थ्य उन सबको प्राप्त हो गयी है जिनके हाथ में विद्युत् शक्ति के संस्थान आ गये हैं। जब भी कोई समाज अपने प्रकाश, भोजन और ताप के लिये विद्युत् शक्ति पर निर्भर हुआ कि उसे फिर इच्छानुसार परिचालित किया जा सकता है। कुछ वर्ष हुए मैं अमेरिका में एक बड़े फार्म के एकान्त में स्थित एक मकान में रहा करता था। इस मकान में रहने वाला व्यक्ति पूर्ण रूपेण विद्युत् शक्ति पर निर्भर था।

कभी-कभी जब आँधी-तूफान में बिजली के तार टूट जाते थे तब जिस असुविधा का अनुभव होता था उसका वर्णन करना सम्भव नहीं है। बिजली के तार काट देने से किसी भी विद्रोही को आत्म-समर्पण के लिये विवश किया जा सकता है। तेल और अन्तर्ज्वलन वाले अभियन्त्रों का हमारी आधुनिक यान्त्रिकी मे क्या महत्त्व है इसे बताने की आवश्यकता नहीं है। प्रविधि सम्बन्धी कारणों से ही बड़ी-बड़ी तेल कम्पनियाँ बनाई जाती हैं और उन्हें ही लाभ हो सकता है। सीमित साधन वाली छोटी तेल कम्पनियाँ खर्चीली पाइप लाइन बिछाने में एकदम असमर्थ हो जाती हैं। विगत तीस वर्षों मे तेल की कम्पनियों ने कितना महत्त्व का स्थान प्राप्त कर लिया है इसे सभी जानते हैं। मध्यपूर्ण और इण्डोनेशिया का आधुनिक इतिहास तो तेल उद्योग का ही इतिहास है। सोवियत संघ और पश्चिमी देशों के बीच तेल भी शत्रुता का एक प्रधान कारण रहा है। और किन्हीं-किन्हीं क्षेत्रों में जिनका यूरोप के लिये सामरिक महत्त्व है इसके कारण समाजवाद के प्रति अनुकूल वातावरण बन गया है।

इसी प्रसंग में सर्वाधिक महत्व का आधुनिक आविष्कार है उड्डयन कला का विकास। वायुयानों ने शासन की शक्ति को बेहिसाब बढ़ा दिया है। बिना वायु सेना के सहयोग के वर्तमान काल में किसी भी सशस्त्र विद्रोह के सफल होने की आशा नहीं की जा सकती। हवाई युद्ध ने शासन की शक्ति का ही विस्तार नहीं किया है, इतनी छोटी और बड़ी कहलाने वाली शक्तियों के अन्तर को भी स्पष्ट कर दिया है। आज केवल बड़ी-बड़ी शक्तियाँ ही विशाल वायु-सेना रखने में समर्थ हो सकती हैं। जिसके पास इतनी बड़ी वायु सेना हो उसके विरोध में कोई भी छोटा राष्ट्र अधिक समय तक नहीं ठहर सकता।

इसके साथ ही मैं भौतिक विज्ञान के आधुनिकतम आविष्कार अर्थात् आणविक शक्ति के उपयोग की भी चर्चा करूँगा। शान्तिपूर्ण कार्यों के लिये इसका क्या और कहाँ तक उपयोग हो सकता है इसका सही मूल्यांकन

अभी सम्भव नहीं है। सम्भव है भविष्य में विशेष कार्यों के लिये इसके भी शक्ति-संस्थान बनाये जायँ और केन्द्रित शक्ति संस्थानों की दिशा में और भी इसके कारण प्रगति हो। यह भी सम्भव है, जैसा कि सोवियत सरकार ने अपने एक वक्तव्य में प्रकट किया है कि इस आणविक शक्ति का उपयोग पृथ्वी की भौगोलिक बनावट के परिवर्तन में हो सकेगा। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ धराशायी हो मैदानों का रूप धारण कर लेंगे और नदी की धारा को मोड़ कर मरुस्थलों में सरोवरों की सृष्टि होगी। लेकिन अभी तो आणविक शक्ति के कार्यों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि शान्ति की अपेक्षा युद्ध के लिए इसे अधिक महत्त्व प्राप्त होगा।

इतिहास के प्रारम्भ से आज तक युद्धों ने समाज के संश्लेषण में मुख्य रूप से योगदान किया है और जब से विज्ञान के युग का प्रारम्भ हुआ है इसने तकनीकी प्रगति में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। छोटे-छोटे संगठनों की तुलना में बड़े संगठन सरलता से विजय प्राप्त करते है, इसलिए युद्धों की परिणति राज्यों के विस्तार के रूप में प्रकट हुई है। प्राविधिकी की प्रगति राज्य की सीमाएँ निश्चित करती है। रोमन साम्राज्य के विस्तार को जर्मनी के सघन वनों ने और अफ्रीका के मरुस्थल ने सीमित कर दिया था; ब्रिटेन की भारत-विजय के प्रसार में हिमालय पर्वत मार्ग रोककर खड़े हो गये थे; नैपोलियन की विशाल सेना रूस की हिम-वर्षा के आगे निश्चेष्ट और गतिहीन हो गयी थी। तार-व्यवस्था के आविष्कार के पूर्व विशाल साम्राज्य विघटित हो नष्ट हो जाते थे क्योंकि केन्द्र से उनका दृढ नियंत्रण नहीं हो पाता था।

साम्राज्यों की सीमाओं के निर्धारण में यातायात और संचार व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। प्राचीन काल में जब रोम और फारस के साम्राज्य अपने वैभव के शिखर पर थे, तब राजमार्गों पर ही उनकी स्थिरता निर्भर थी। उन दिनों चूँकि घोड़े से बढ़कर वेग से भागने वाले किसी सयंत्र का आविष्कार नहीं हुआ था, इसलिए साम्राज्य विस्तार

के कारण केन्द्र और सीमान्त प्रदेशों की दूरी बहुत बढ़ जाती थी, नियंत्रण शिथिल हो जाता था। रेल और तार के आविष्कार के बाद यह कठिनाई पर्याप्त रूप से हल हो गयी। अब जब कि हजारों मील भागने वाले बम-वर्षक विमान बनने लगे हैं नियंत्रण की कठिनाई दूर हो गयी है। अब जागतिक सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना के लिए भी, जहाँ तक प्राविधिकी का सम्बन्ध है, किसी प्रकार की रुकावट नहीं रह गयी है। भविष्य के युद्ध मे भीषण जन संहार होना अवश्यम्भावी है। इसलिए एक सार्वभौमिक शासन की आवश्यकता उत्पन्न हो गयी है। विकल्प के रूप में हमें या तो बर्बर-युग के समाज की ओर लौटना पड़ेगा या मानव जाति के अशेष विनाश की स्थिति स्वीकार करनी पड़ेगी।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि एक सार्वभौम शासन की स्थापना के मार्ग मे मनोवैज्ञानिक अवरोध मौजूद हैं। अतीत मे, जैसा मैं पहिले भी कह चुका हूँ, समाज के संगठन में युद्ध का विशेष स्थान रहा है। एकता की ओर ले जाने वाली मानसिक स्थितियाँ हैं घृणा और भय। इनके लिए आवश्यकता है एक शत्रु की—वास्तविक या संभावित। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सार्वभौम शासन को शक्ति के द्वारा ही जीवित रखा जा सकता है। इसे बनाये रखने के लिए उस प्रकार की भावात्मक एकता प्रकट नहीं होगी जैसी युद्धकाल में राष्ट्रों में उत्पन्न हो जाती है। इस पर मैं अपना विचार फिर प्रकट करूँगा।

अभी तक मैंने केवल उन प्रविधियों पर दृष्टि डाली है जिनकी प्राप्ति भौतिकी और रसायन विज्ञानों के कारण हुई है। अभी तक इन्हीं विज्ञानों का सर्वाधिक महत्व रहा है लेकिन भविष्य में जैविकी, शरीर विज्ञान एवं मनोविज्ञान भी मानव जीवन पर गहरा प्रभाव डालेंगे।

सर्व प्रथम हम भोजन और जनसंख्या के प्रश्न को लेते हैं। वर्तमान काल में संसार की जन-संख्या दो करोड़ प्रति वर्ष की रफ्तार से बढ़ रही है। इसमें भी तेजी से वृद्धि हो रही है रूस और दक्षिण पूर्वी एशिया में।

पश्चिमी योरोप और संयुक्तराज्य अमेरिका में जनसंख्या की वृद्धि में करीब-करीब स्थिरता आ गयी है। इस वृद्धि के साथ-साथ संसार में अन्न के उत्पादन में कमी आती जा रही है। इस कमी के दो प्रमुख कारण हैं : कृषि की विवेक-शून्य प्रणालियाँ और वनों का निरन्तर विनाश। हमारे सामने विस्फोटक स्थिति उत्पन्न हो गयी है। इस ओर यदि ध्यान नहीं दिया गया तो निश्चय ही अन्न का उत्पादन घटेगा और उसका निश्चित परिणाम होगा—युद्ध। वैज्ञानिक प्रविधियों की सहायता से दूसरी संभावनायें भी दिखाई देती हैं।

पश्चिम में संतति निरोध एवं औषधियों की सहायता से जनसंख्या को प्रभावित किया जा सका है। एक से जन्म लेने वालों की संख्या घटती है तो दूसरे से मरनेवालों की। इसी कारण पश्चिम में औसत आयु की सीमा बढ़ती जा रही है। वृद्धों की प्रतिशत संख्या मे वृद्धि हुई है। कुछ लोगों का अनुमान है कि इसे दुर्भाग्य ही समझना चाहिए और इसके हानिकर परिणाम होंगे, लेकिन मैं जो स्वयं वृद्धावस्था में आ पहुँचा हूँ, विश्वास के साथ इस अनुमान का समर्थन नहीं कर सकता।

विश्व का अन्न-संकट, कृषि की प्रविधियों में सुधार कर, कुछ समय के लिए तो टाला ही जा सकता है। लेकिन यदि जन-संख्या इसी प्रकार बढ़ती रही तो ये उपाय पर्याप्त नहीं होंगे। इसके परिणाम स्वरूप संसार के देश दो प्रकार के समाजों में विभक्त हुए दिखाई देने लगेंगे। एक तो वह निर्धन समाज जहाँ वेग से जनसंख्या में वृद्धि होती जा रही है; दूसरा समाज उन सम्पन्न व्यक्तियों का जहाँ जनसंख्या में स्थिरता आ गयी है। यह स्थिति भी विश्वयुद्ध को ही जन्म देगी। यदि एक के बाद दूसरे युद्ध का यह अविच्छिन्न क्रम कहीं न कहीं समाप्त करना है तो जनसंख्या की यह वृद्धि रोकनी ही होगी। अनेक देशों में तो शासन को कानून बना कर इसे रोकना होगा। इसका अर्थ यह होगा कि विज्ञान की प्रविधियाँ व्यक्ति के आन्तरिक जीवन में भी प्रवेश करेंगी। लेकिन दो और भी सभावनायें हैं जिनकी हम अपेक्षा

नहीं कर सकते। पहिली यह कि युद्धों में जो भीषण जनसंहार होगा उसके कारण, कम से कम कुछ समय तक, जनसंख्या का प्रश्न हमें भयभीत नहीं करेगा। दूसरी संभावना यह भी है कि वैज्ञानिक प्रविधियों में जो राष्ट्र आज आगे बढ़े हुए हैं वे पराजित हो जायँ और तदुपरान्त उत्पन्न होनेवाली अराजकता में विज्ञान की प्रविधियाँ ही एकदम लुप्त हो जायँ।

वंशागति के अध्ययन के द्वारा इस बात की पर्याप्त संभावना है कि प्राणीविज्ञान भविष्य मे मानव-जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करे। विज्ञान की सहायता के बिना भी मनुष्यों ने घरेलू पशुओं को और खाद्य वनस्पतियों को आश्चर्यजनक रूप से बदलकर लाभप्रद बनाया है। अतः यह स्वीकार करने में किसी को भी विशेष आपत्ति नहीं होगी कि वंशागति विज्ञान की सहायता से इनमें अविलम्ब ही बहुत बड़ा परिवर्तन किया जा सकता है। यह बात भी अब असंभव नहीं मालूम होती कि स्वयं 'जीन्स' (genes) में कृत्रिम उपायों द्वारा अभीष्ट परिवर्तन किये जा सकते हैं। (अभीतक किये गये परिवर्तन विशेष उपयोगी सिद्ध नही हुए है।) किन्तु इस बात में अब कोई भी सन्देह नहीं करता कि वैज्ञानिक प्रविधियों की सहायता से पशुओं और आवश्यक वनस्पतियों में, मानव समाज के हितार्थ आश्चर्य-जनक परिवर्तन किया जा सकेगा।

पशुओं और वनस्पतियों के स्वभाव को ही बदलने की दिशा में जब लम्बी अवधि तक प्रयोग हो चुकेंगे और असंदिग्ध रूप से उनकी सफलता स्थापित हो चुकेगी तब इस बात की पूरी संभावना है कि विज्ञान की प्रविधि का मनुष्य की नस्ल सुधारने की दिशा में एक प्रबल आन्दोलन उठ खड़ा हो। निश्चय ही इस प्रकार की नीति को व्यावहारिक बनाने के विरुद्ध भावनात्मक और धार्मिक बाधायें उठाई जायेंगी। लेकिन हम मान लें कि एक कोई देश, उदाहरण के लिए रूस, इन बाधाओं पर क़ाबू पा लेता है, और इसके फल स्वरूप एक ऐसी जाति का निर्माण करने में सफल हो जाता है जो दूसरों से अधिक शक्तिशाली, अधिक बुद्धिमती और रोगादि से अपेक्षा

कृत मुक्त हो, संक्षेप में ऐसी जाति जो अभी तक की मानव जातियों से श्रेष्ठकर हो और इससे दूसरों को आशंका और भय होने लगे और उन्हें यह विश्वास जमने लगे कि उन्हे भी उसी मार्ग पर चलना चाहिए अन्यथा युद्ध में उनकी अवश्य ही पराजय होगी तब निश्चय ये बाधायें दूर हो जायेंगी। नहीं तो युद्ध में अपमानित होने के बाद उन्हें विरोध छेड़ने के लिए विवश होना पड़ेगा। नृशंस से नृशंस वैज्ञानिक प्रविधि का भी, यदि युद्ध मे विजय पाने में वह सहायक होती हो, अवश्य प्रचार और प्रसार होगा—और यह प्रचार उस समय तक होगा जब तक लोग युद्धों से ऊब कर शान्ति का मार्ग न अपना लें। लेकिन अभी तो वह दिन बहुत दूर मालूम होता है। निश्चय ही मनुष्य के जीवन में वैज्ञानिक अधिजनन विधियों का महत्त्वपूर्ण स्थान होगा। इस विषय की शेष चर्चा मैं एक अन्य परिच्छेद में करूँगा।

शारीरिकी और मनोविज्ञान के क्षेत्रों में वैज्ञानिक प्रविधियों के लिए पर्याप्त अवकाश है, लेकिन अभी तो इन दोनों विज्ञानों का भी साधारण ही विकास हुआ है। दो महान विज्ञानाचार्यों—पैपलोव और फ्रायड—ने अभी तो इनकी आधारशिला ही रखी है। मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ कि इन दोनों आचार्यों के विचारों मे वास्तविक विरोध है। लेकिन इनके द्वारा रखी हुई आधार-शिला पर कैसा भवन निर्मित होगा यह विवाद का विषय हो सकता है।

मैं समझता हूँ राजनीतिक दृष्टि से समूह मनोविज्ञान को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होने वाला है। अभी तक इस शाखा का अध्ययन वास्तव में वैज्ञानिक रीति से हुआ ही नहीं है; विश्वविद्यालयों में अभी इसके प्राचार्य नहीं पहुँचे हैं। अभी तक तो राजनीति के पहलवान और तानाशाहों को ही इसका आचार्यत्व प्राप्त हुआ है। व्यावहारिक जीवन में—चाहे धन संग्रह की लालसा हो, चाहे शासन और शक्ति की, इस विज्ञान का महत्त्वपूर्ण उपयोग हो सकता है। समूह मनोविज्ञान वैयक्तिक मनोविज्ञान पर ही स्थित है लेकिन अभी तक इसका अध्ययन अनुमानों पर आधारित रहा है।

अध्ययन के ये तरीके अन्तर्दृष्टीय सामान्य ज्ञान पर आधारित हैं। आधुनिक युग में प्रचार और विज्ञापनों की नवीनतम विधियों के कारण इसका महत्त्व बहुत बढ़ गया है। जिसे हमने शिक्षा नाम दे रखा है वह प्रचार का सर्वोपरि प्रभावी तरीक़ा है। धर्म का भी इसमें स्थान है लेकिन उसका प्रभाव अब घटता जा रहा है। प्रकाशन के उपकरण रेडियो और सिनेमा अधिकाधिक उपयोग में लाये जाने लगे है।

सामूहिक मनोविज्ञान में, लोगों को अनुवर्ती बनाने की कला का विशेष स्थान है। अगर आप हिटलर की एडमन्ड बर्क के भाषणों से तुलना करें तो आप फौरन ही जान जायेंगे कि अठारहवीं शताब्दी से अब तक वक्तृत्व कला में कितनी प्रगति हो गयी है। मुख्य रूप से जो गलती तब की जाती थी उसका कारण यह था कि लोगों का ज्ञान पुस्तकों पर आधारित रहता था, और पुस्तकों में लिखा था कि 'मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है।' इस ज्ञान के आधार पर अनेक भ्रामक निष्कर्ष निकाले गये थे। आज हमने अच्छी तरह देख लिया है कि मनुष्य को प्रचार और विज्ञापन से, मशालों के प्रकाश से और मार्च करते हुए बैण्ड से जितना अधिक प्रभावित किया जा सकता है उतना अच्छी से अच्छी शब्दयोजना से नहीं किया जा सकता। अगर किशोरावस्था में ही जाल बिछा दिया जाय और राज्य प्रचुर द्रव्य एवं साधन जुटाने में सहायक हो तो किसी भी व्यक्ति को इच्छानुसार प्रभावित किया जा सकता है।

जब एक निरंकुश शासन, विज्ञान के आचार्यों की सहायता से, इस क्षेत्र में प्रवेश करेगा तब आशातीत प्रगति की संभावनायें दिखाई देती हैं। अनाक्सागोरस ने जब यह कहा कि "बर्फ का रंग काला होता है" तब किसी ने भी उसकी बात पर विश्वास नहीं किया। भविष्य में सामाजिक मनोविज्ञान के पंडित भिन्न-भिन्न वर्गों के लिए विभिन्न शिक्षा प्रणालियों की परीक्षा करेंगे। शिक्षा के माध्यम से इन छात्रों को दृढ़ विश्वास दिलाया जा सकेगा कि बर्फ का रंग असन्दिग्ध रूप से काला होता है। इससे अनेक

प्रकार के परिणाम निकाले जा सकेंगे। प्रथम तो यह कि घर का प्रभाव शिक्षा के मार्ग मे रुकावटें पैदा करता है। दूसरा यह कि दस वर्ष की अवस्था के पूर्व ही बच्चों की इच्छित शिक्षा प्रारम्भ हो जानी चाहिए तभी सफलता की आशा हो सकती है। तीसरा, पद्यमय पंक्तियों को संगीत की लय के साथ बार-बार दुहराने से प्रभावी परिणाम निकलते है। चौथा, जो भी व्यक्ति ऐसा मत प्रकट करेगा कि बर्फ का रंग सफेद होता है उसे रुग्ण और विक्षिप्त मनोवृत्ति का व्यक्ति समझा जायेगा। मैं यहाँ पर भविष्य में होने वाली बातों का पूर्वानुमान लगाने बैठ गया हूँ। भविष्य के वैज्ञानिक नपे-तुले शब्दों में शिक्षा के सिद्धान्तों की व्याख्या करेंगे और सही-सही मूल्यांकन भी करेंगे। वे निश्चय करेंगे कि बर्फ का रंग काला होता है या गहरे धूसर वर्ण का होता है। इस प्रकार की धारणा को पुष्ट करने वाली शिक्षा शासन के लिये पर्याप्त व्यय साध्य होगी।

यद्यपि इस विज्ञान का बड़ी सावधानी से अध्ययन किया जायगा तथापि वह शासक वर्ग तक ही सीमित रहेगा। जन-साधारण को तो इस बात का आभास भी न होगा कि किन उपायों द्वारा उनके विश्वासों का निर्माण हो रहा है। जब इस प्रविधि को परिनिष्पन्न कर लिया जाएगा तब शासन को, जिसने एक पीढ़ी तक शिक्षा का दायित्व सम्हाला हो, प्रजा के अनुशासन के लिये न तो सेना की और न पुलिस की ही अपेक्षा होगी। प्रजा को नियंत्रण मे रखने की समस्या ही तब न रहेगी। राजनीतिज्ञों का यह स्वर्ग-राज्य अभी तक केवल एक ही देश मे स्थापित हो पाया है।

विज्ञान की प्रविधियों के प्रभाव अभी तक भी विविध प्रकार के तथा महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। भविष्य में तो निश्चय ही इनका महत्त्व बढ़ेगा। इनमें से कुछ प्रभाव तो किसी देश विशेष की राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर करते है; कुछ अन्य प्रभाव अवश्यम्भावी है; राजनीतिक या आर्थिक व्यवस्था जैसी भी हो। इस अध्याय में मैं केवल उन प्रभावों की चर्चा करूँगा जो अवश्यम्भावी है।

४४ : समाज पर विज्ञान का प्रभाव

वैज्ञानिक प्रविधि का प्रत्यक्ष दीखने वाला एवं अनिवारणीय प्रभाव एक तो यही है कि इसके फलस्वरूप समाज जैविक स्वरूप ग्रहण करता है; समाज के विभिन्न अंग एक दूसरे पर अधिकाधिक निर्भर होते जाते है। उत्पादन के क्षेत्र में इसका दुहरा रूप हो जाता है। प्रथम, एक ही कारखाने में काम करने वालों के बीच अत्यधिक घनिष्ठता। दूसरा, विभिन्न उपयोगों के बीच कम घनिष्ठ सम्बन्धों के बावजूद भी पारस्परिक निर्भरता। ज्यों-ज्यों विज्ञान को प्रविधियों का विकास होता जाता है त्यों-त्यों इनका महत्त्व भी बढ़ जाता है।

उद्योग की दृष्टि में पिछडे हुए देश का साधारण कृषक अपने पुराने सरल उपकरणों से अपने लिए पूरा भोजन प्राप्त कर सकता है। दूसरों पर उसकी सामान्य सी निर्भरता केवल औजारों के लिए, नमक जैसी कुछ आवश्यक वस्तुओं के लिए, और थोड़ा बहुत वस्त्रों के लिए ही हो सकती है। इस प्रकार शेष जगत् से उसके सम्बन्ध न्यूनतम की स्थिति पर पहुँच जाते है। अपने कुटुम्ब के भरण पोषण के अतिरिक्त अगर वह कृषक थोड़ा-सा भी अतिरिक्त उत्पादन करता हो तो वह सम्पूर्ण रूप से आत्म निर्भर हो सकता है। अवश्य ही इस स्वतंत्रता के कारण उसे कष्ट होंगे और निर्धनता कभी उसका साथ नहीं छोड़ेगी, दुर्भाग्य से यदि कहीं दुर्भिक्ष पड़ गया तो उसे फाका भी करना पड़ेगा, और अपने मासूम बच्चों की मृत्यु भी देखनी पड़ेगी। अपनी स्वतंत्रता उस कृषक ने इतनी मंहगी खरीदी है कि आज उन्नत देश का कोई भी नागरिक अपनी स्थिति के बदले उस स्वतंत्रता की कामना नहीं करेगा। औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व अधिकांश लोग इसी कृषक की स्थिति में थे।

चाहे किसी भी प्रकार विचार करें—किसान के भाग्य में आराम की जिन्दगी नहीं बदी होती; दुर्भाग्य कभी उसका साथ नहीं छोड़ता; महाजन और ज़मीदार के पंजे से उसका छुटकारा नहीं हो पाता। किसी भी देश के किसी काल का इतिहास लीजिये, आपको सर्वत्र अवसाद से पूर्ण एक ही

चित्र दिखाई देगा। निम्न उदाहरण एक प्रसिद्ध इतिहास की पुस्तक से ही लिया गया है।

"इस समय उस स्वस्थ और परिश्रमी भूमिधर-कृषक की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। दुर्भिक्ष के कारण भुखमरी की समस्या उत्पन्न हो गयी थी। बहुतों ने शहर में रहने वाले महाजनों से ऋण ले रखा था। महाजन—समाज की न तो किसी प्रकार की स्वस्थ परम्पराएँ थीं और न उनमें किसी प्रकार की सद्वृत्ति ही परिलक्षित होती थी। जिसने भी इन महाजनों से ऋण लेने का दुस्साहस किया उसने मानो अपने ऊपर हमेशा के लिए गुलामी की चादर ओढ़ ली। इस प्रकार ये बलिष्ठ स्वस्थ भूमिधर जो राष्ट्र की रीढ़ थे, इन लचीले नीतिहीन महाजनों के आगे, जिन्होंने अनुचित उपायों से अपार सम्पत्ति अर्जित कर ली थी, अपना अस्तित्व ही खो बैठे।" आप सोलोमन के पूर्व ऐटिका के इतिहास को पढ़िये—बिल्कुल यही चित्र आपको मिलेगा। प्यूनिक युद्धों के बाद लैटियम के वर्णन में, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे, इग्लैण्ड के इतिहास में, नौरिस लिखित 'औक्टोपस' ग्रन्थ में, ब्रिटिश शासन काल के उत्पीड़ित भारत के इतिहास में बहुत कुछ एक ही प्रकार के वर्णन मिलेंगे। आप तब यह भी समझ सकेंगे कि क्यों चीन के किसान समाजवाद के प्रबल समर्थक हैं। हम इस क्रमिक स्थिति को कितना ही अवाञ्छनीय क्यों न समझें, लेकिन यह. कृषि की, बृहत्तर अर्थव्यवस्था में समाकलित होने के काल की, एक आवश्यक और अनिवार्य मंजिल है।

पुराने कृषकों की तुलना में हम आधुनिक काल के कृषकों को लें। वे चाहे केनेडा के हों, चाहे आस्ट्रेलिया के हों, चाहे आर्जन्टाइन के या कैलिफोर्नियां के हों। सब के अपने अपने संगठन हैं और उनका एक प्रधान उद्देश्य है—निर्यात। निर्यात से जिस समृद्धि की उन्हें आशा है वह अनेक दूसरी समस्याओं से जुड़ी है और उन पर निर्भर भी है। यूरोप में युद्ध है या शान्ति, मार्सल योजना में सहायता की कितनी रक़म रखी गयी है,

ब्रिटेन में मुद्रा का अवमूल्यन होनेवाला है या नहीं ?—इस सबका निर्यात से सम्बन्ध है। आज प्रत्येक प्रश्न राजनीति से जुड गया है। वाशिंगटन में कृषि का प्रतिनिधित्व करने वाला दल सक्षम है या दुर्बल ? आर्जन्टाइन और सोवियत रूस में कहीं घनिष्ठता तो नहीं बढ़ रही है ?—इत्यादि। ये सब महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। आज भी कहने भर को हमें यत्रतत्र स्वतंत्र कृषकों के दर्शन होते है लेकिन वास्तव मे वे स्वतंत्र नही है। वे, राजनीति के सूत्रो को कुशल हाथों से संचालित करने वाले, विपुल आर्थिक स्वार्थो से जकड़े हुए है। विभिन्न अर्थ व्यवस्थाओं के होते हुए भी राष्ट्रों की यह पारस्परिक निर्भरता कम नहीं होती। रूसी सरकार जब अनाज के बदले ब्रिटेन से यंत्र मँगाती है तो किसी हद तक उस पर निर्भर हो जाती है। ये सब प्रभाव विज्ञान की प्रविधियों के कृषि में प्रयुक्त होने से निकले हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में माल्थुस ने निम्नलिखित शब्द लिखे थे—"प्रगल्भ कल्पना वाले अनेक अर्थशास्त्रियों का कहना है कि यूरोप को अपने लिए अन्न अमेरिका में उगाना चाहिए और अपना पूरा ध्यान उद्योग और व्यापार पर केन्द्रित करना चाहिए।" आज हम देखते है कि इस कल्पना मे और वास्तविकता में अन्तर नहीं रह गया है।

यह तो हुई कृषि की बात। उद्योगों मे तो विज्ञान की प्रविधि ने देशों को अत्यन्त निकट ला दिया है।

उद्योगीकरण का एक प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ है कि ग्रामीण क्षेत्रों की आबादी का एक बहुत बड़ा भाग शहरों मे रहने लगा है। नगरों में रहने वाले लोग कृषकों की तुलना में अधिक मिलनसार और सामाजिक होते है और इसीलिए विचारों द्वारा, तर्क द्वारा उन्हे प्रभावित किया जा सकता है। साधारण तथा शहरी व्यक्ति एक बड़े जन समूह के बीच रहकर कार्य करने का अभ्यासी होता है और मनोरंजन के लिए भी उसे बड़े-बड़े जन समूहों में जाना पड़ता है। प्रकृति उससे दूर हो जाती है : रात दिन का क्रमशः आगमन, ग्रीष्म और हेमन्त, वृष्टि और आतप—इनका उसके

जीवन में स्थान नहीं रह जाता। उसे इस बात का भय नहीं सताता कि हिमपात, अनावृष्टि और अतिवृष्टि से उसे क्षति पहुँचेगी। उसके लिए सर्वाधिक महत्व है दूसरों के साथ सम्बन्धों का और विभिन्न जनसंगठनों में अपने स्थान का।

हम एक साधारण कारखाने मे काम करने वाले व्यक्ति के जीवन को देखें। कितने ही संगठनों से उसके जीवन का सीधा सम्बन्ध है। सब से पहिले तो उसका सम्बन्ध अपने कारखाने से है जो स्वयं मे एक व्यापक संगठन का भाग हो सकता है। इसके उपरान्त आता है उसका 'श्रमिक संघ' या 'ट्रेड यूनियन'। ट्रेड यूनियन का सम्बन्ध है उसके राजनीतिक दल से। जिस कमरे में वह रहता है वह भी संभवतः किसी सार्वजनिक अधिकरण के माध्यम से उसे प्राप्त हुआ है। उसके बच्चों का सम्बन्ध उस संगठन से है जिसे 'स्कूल' की संज्ञा दी गयी है। उसे अखबार पढ़ने का या सिनेमा देखने का या फुटबौल की मैच देखने का शौक है। ये मनोरंजन भी बड़े प्रभावशाली संगठनों द्वारा आयोजित किये जाते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक श्रमिक का सम्बन्ध उन अनेक संस्थाओं से है जिनसे उसका नियोक्ता सम्बन्धित है। जिन संघों से कच्चा माल खरीदा जाता है और जिनके लिए तैयार माल निर्यात किया जाता है उन सबसे श्रमिक का सम्बन्ध है। सर्वोपरि संगठन है राज्य जो उस पर तरह तरह के कर लगाता है, जो किसी भी समय उसे युद्ध के मोर्चे पर जाने की आज्ञा दे सकता है। इसके बदले राज्य उसे शान्ति काल मे सुरक्षा प्रदान करता है तथा निश्चित मात्रा में खाद्य सामग्री खरीदने की सुविधा प्रदान करता है।

आधुनिक इग्लैण्ड मे रहनेवाला पूंजीपति भी यही कहता है कि उसकी दशा अत्यन्त ही शोचनीय है, उसकी स्वतंत्रता की सब ओर से छटनी कर दी गयी है। उसका आधे से अधिक लाभ शासन के ऐसे कोष मे चला जाता है जिससे उसे सख्त नफरत है। शासन ने उसकी पूंजी पर कड़ा नियंत्रण लगा दिया है। प्रत्येक कार्य के लिए शासनकी अनुमति चाहिए

और अनुमति तब मिलती है जब उसके बताये हुए कारणों से शासन सन्तुष्ट हो जाता है। अपने मालको वह कहाँ बेचे इस विषय में भी वह सरकार की इच्छा की अवहेलना नहीं कर सकता। जिस कच्चे माल की उसे आवश्यता होती है उसके मिलने में कठिनाई हो सकती है, विशेषतः यदि वह डौलर क्षेत्र से आता हो।

उसे मजदूरों से अच्छे सम्बन्ध बनाने की दिशा में भी सावधानी बरतनी पड़ती है। असावधानी से हड़ताल की नौबत आ सकती है। सबसे बड़ी बिभीषिका जो उसे सताती है वह यह कि बाजार में कहीं यकायक मन्दी न आ जाय और वह अपने जीवन बीमे की किश्त तक न चुका सके। कभी कभी रात्रि में भय से उसकी नींद उचट जाती है और शरीर पसीने से भीग जाता है। उसे भयानक स्वप्न दिखाई दिया है—'युद्ध का श्रीगणेश हो गया है। उसका कारखाना, उसकी कोठी, उसकी बीबी और बच्चे सब समाप्त हो गये है।' हम देखते है कि विभिन्न संगठनों के कारण उसकी स्वतंत्रता सीमित हो गयी है, फिर भी वह नये-नये संगठनों के निर्माण में व्यस्त दिखाई देता है। नये सैनिक संगठन, पश्चिमी यूनियन; अतलातिक संघ; प्रकोष्ठ संगठन; निर्माताओं के संघ। हो सकता है कभी कभी उसे अतीत की याद आती हो जब व्यापार मे किसी प्रकार की अड़चन नहीं थी। लेकिन उसे अच्छी तरह मालूम है कि पुराने संगठनों के स्थान में नये संगठन बनाने ही होंगे। बिना संगठनों के उसकी मुक्ति नहीं है। वह जानता है कि अलग रहकर वह करीब-करीब असहाय ही बना रहेगा और उसका अलग-अलग राज्य शक्तिशाली नहीं बन सकेगा।

संगठनों की वृद्धि से नये-नये शक्ति संस्थानों का जन्म हुआ है। प्रत्येक संस्थान में दायित्व उठाने वाले प्राधिकारी होते हैं जिनके हाथ में शक्ति केन्द्रित होती जाती है। यह सच है कि इन प्राधिकारियों के ऊपर भी नियंत्रण दूर से होता है और शिथिल गति से कार्यान्वित होता है। कभी-कभी इस नियंत्रण का अस्तित्व तक नहीं मालूम होता। उस नवयुवती से लेकर

जो डाकखाने में टिकट बेचती है, प्रधान मंत्री तक प्रत्येक प्रशासनिक अधिकारी राज्य की प्रभु-सत्ता से संयुक्त है। अगर वह नवयुवती तुम्हारे साथ अशिष्ट व्यवहार करती है तो तुम उसकी शिकायत कर सकते हो। तुम चाहो तो आगामी चुनाव में प्रधान मंत्री के विरुद्ध अपना मत दे सकते हो। लेकिन तुम्हारा असन्तोष न तो उस युवती को और न प्रधान मंत्री को ही तत्काल किसी प्रकार की हानि पहुँचा सकता है। शासन में तथा अन्यत्र भी अधिकारियों की शक्ति में जो यह वृद्धि होती जा रही है उससे सभी परेशान है। इग्लैण्ड में तो नहीं, किन्तु दूसरे कितने ही देशों में प्रशासन के ये अधिकारी अत्यन्त दुर्विनीत होते है। अमेरिका में तो प्रत्येक पुलिस अधिकारी आपको सन्देह की दृष्टि से ही देखता है। वह विश्वास ही नहीं कर सकता कि आप अपराधी नहीं है। संगठनों की वृद्धि का मुख्य दुष्परिणाम अधिकारियों के उत्पीड़न के रूप में प्रकट हुआ है। इसके विरुद्ध सुरक्षा आवश्यक है। नहीं तो विज्ञान के युग का यह समाज कुछ दुष्ट अधिकारियों को छोड़ सभी को असह्य हो उठेगा।

सिद्धान्त रूप में अन्तिम शक्ति जनता के हाथ में है लेकिन व्यवहार में अधिकारियों के हाथ में केन्द्रित है और यह जन-शक्ति से सर्वथा भिन्न है। बड़े-बड़े संस्थानों और उद्योगों में संचालकों का चुनाव हिस्सेदारों के द्वारा अवश्य सम्पन्न होता है, लेकिन वास्तविकता का रूप इतना सरल नहीं है। ये संचालक नाना प्रकार के छल-कौशल द्वारा जितना चाहें अपना कार्य-काल बढ़ा लेते हैं। इग्लैण्ड के शासन में, सभी जानते हैं, कि अधिकांश मंत्री प्रशासनिक अधिकारियों को नियंत्रित करने में असमर्थता का अनुभव करते हैं। सच तो यह है कि कुछ दलीय समस्याओं को छोड़, ये प्रशासनिक अधिकारी ही वास्तव में नीति निर्धारण करते हैं। अनेक देशों में सेना के अधिकारी नियंत्रण में नहीं रह पाते और शासन को चुनौती देने लगते हैं। पुलिस के सम्बन्ध में मैं अभी कह ही चुका हूँ, लेकिन कुछ और कहना जरूरी है। कम्यूनिस्ट दल के लोग जब किसी देश में संयुक्त मंत्रि मण्डलों में सम्मिलित होते हैं तो उनका सबसे पहिला प्रयत्न होता है

पुलिस पर अपना नियंत्रण। एक बार जहाँ उन्हे इस उद्देश्य में सफलता मिली कि फिर षड़यंत्र, गिरफ्तारी, अपराधों का रहस्यमय उद्घाटन, बल प्रयोग आदि के लिए रास्ता खुल जाता है। इस प्रकार शासन में साझीदार के रूप में प्रवेश कर वे शीघ्र ही शासन तंत्र पर ही अधिकार कर लेते हैं। पुलिस द्वारा कानून का पालन हो—यह एक कठिन समस्या है। अमेरिका में समस्या का हल नहीं निकल पाया है। वहाँ की पुलिस शारीरिक यंत्रणा देकर लोगों से जबर्दस्ती अपराध स्वीकार कराती है। इस संभावना की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि इस प्रकार अपराध स्वीकार करने वाले अनेक व्यक्ति निर्दोष हों। (इस सम्बन्ध में अर्नेस्ट जेरोम हौपकिन्स लिखित, न्यूयौर्क वाइकिंग प्रेस, द्वारा प्रकाशित 'हमारी कानून तोड़ने वाली पुलिस' पठनीय है।)

विज्ञान ने संगठनों का जो विस्तार किया है उसके कारण अधिकारियों की शक्ति में वृद्धि हुई है। इसका प्रधान दोष यह है कि यह शक्ति परदे के पीछे काम करती है और सर्वथा अनुत्तरदायी है। यह उसी प्रकार की शक्ति है जैसी प्राचीन काल में राजाओं के अन्तःपुर मे कञ्चुकी की, या सम्राट् की प्रेमिकाओं की होती थी। इस शक्ति पर अकुंश रखने के उपाय खोजना हमारे युग की एक बड़ी समस्या है। उदारवादियों ने सफलतापूर्वक सम्राट् एवं कुलीनवर्ग की प्रभुता का विरोध किया। समाजवादियों ने इसी प्रकार पूंजीपतियों की निरंकुशता के विरुद्ध मोरचा लिया। लेकिन जब तक इन अधिकारियों की शक्ति को सीमित नहीं किया जाता तब तक जिस साम्यवाद की प्राप्ति हुई है उसका अर्थ केवल इतना ही होता है कि एक वर्ग विशेष का स्थान दूसरे वर्ग-विशेष ने ले लिया है। जो शक्ति पहिले पूंजीपतियों के हाथ में थी वह अब राज्य के अधिकारियों के हाथ में आ गयी है। १९४२ में मैं जब अमेरिका में रहता था, मेरे बगीचे में काम करने के लिए एक माली आया करता था। उसका अधिकांश समय शस्त्रास्त्रों के कारखाने में काम करते हुए व्यतीत होता था। एक दिन

विजय के उल्लास से भरा हुआ वह मुझसे कहने लगा—'हमारी यूनियन ने ज़ोरदार संघर्ष के बाद 'दूकानबन्दी' का अधिकार प्राप्त कर लिया है। कुछ ही दिन बाद विषाद भरे स्वर में वह मुझे बताने आया कि यूनियन के सचिव की वेतन वृद्धि के लिए यूनियन का चन्दा बढ़ा दिया गया है। जिन लोगों ने पूंजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष कर अधिकार प्राप्त किया था वे ही अब यूनियन के सचिव के विरुद्ध एक भी शब्द नहीं बोल सकते थे। इसका सीधा अर्थ लगाया जाता यूनियन के साथ विश्वासघात। यह घटना बताती है कि किस प्रकार जनता अपने ही संगठन के अधिकारियों के सामने लाचार हो जाती है—उस दशा में भी जब कि संघ के संगठन की बुनियाद जनतंत्र के सिद्धान्तों पर रखी गयी हो।

अधिकारियों की शक्ति का एक बड़ा दोष यह भी है कि वे जिन चीजों पर नियत्रंण रखते है स्वयं उनसे दूर रहते हैं। उदाहरण के लिए—शिक्षा सचिवालय के लोग क्या शिक्षा के विषय मे एक शब्द भी जानते हैं ? बीस तीस वर्ष पूर्व किसी शिक्षा संस्था से, विद्यार्थी के रूप में, उनका थोड़ा बहुत परिचय रहा होगा। इसके बाद उनका उक्त विषय का ज्ञान शून्य के बराबर ही तो है। इसी प्रकार कृषि मंत्रालय को लीजिये। कितने व्यक्ति वहाँ अपने विषय का कुछ भी ज्ञान रखते हैं ? 'मैन गोल्ड' के सम्बन्ध में बहुतों को केवल इतना ही तो मालूम है कि कैसे यह शब्द लिखा जाता है। क्या हमारे विदेश मंत्रालय को आधुनिक चीन के बारे में कुछ भी जानकारी है ? १९२१ में अपनी चीन-यात्रा के बाद लौटकर मैं विदेश मंत्रालय के स्थायी अधिकारियों से मिला जिनपर ब्रिटेन की सुदूरपूर्वी नीति को निर्धारित करने का दायित्व था। तब मुझे मालूम पड़ा कि उनके अज्ञान से बढ़ कर कुछ और भी हो सकता था तो वह था उनका अहंभाव। अमेरिका में एक नये शब्द—जी हुजूर—का चलन हुआ है। यह शब्द उन लोगों के लिए प्रयुक्त होता है जो बड़े-बड़े अधिकारियों के गीत गाते रहते हैं। इसके विपरीत इग्लैण्ड में उन व्यक्तियों का बोलबाला है जो अपने अज्ञान

को कुशलता से छिपा उसका उपयोग उन योजनाओं के विघटन और विरोध में करते हैं जिन्हें जानकार, चिन्तनशील और उत्साही व्यक्तियों ने सुझाया है। मेरा तो निश्चित मत है कि इग्लैण्ड के ये 'अज्ञानी' अमेरिका के 'जी हुजूरों' से हजार गुना हानिकारक हैं। हमें अपनी खोई हुई समृद्धि फिर से पानी है तो इन उत्साहहीन मूर्खों से छुटकारा पाना ही होगा।

संगठन के विस्तार के साथ-साथ अब वैयक्तिक स्वतंत्रता की सीमा के प्रश्न पर बिल्कुल ही नये रूप से विचार करने की आवश्यकता है। अब मिल जैसे लेखकों की विचारधारा से समस्या हल नहीं हो सकती। आज किसी एक व्यक्ति का कार्य महत्व का नहीं रह गया है लेकिन 'समूहों' के कार्य महत्वपूर्ण हो गये हैं। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति काम न करना चाहे तो यह उसकी मर्जी है। इसके फलस्वरूप वह केवल अपनी मजदूरी से वञ्चित रहेगा, और समस्या का अन्त हो जायेगा। लेकिन अगर किसी प्रधान उद्योग में आज कहीं हड़ताल हो जाय तो पूरे समाज को ही असुविधा हो जाती है। मेरा अभिप्राय यह नहीं कि हड़ताल का अधिकार समाप्त किया जाना चाहिए। मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि अगर इस अधिकार को सुरक्षित रखना हो तो उसे समस्या से सम्बद्ध कारणों तक ही सीमित रखना होगा। वैयक्तिक स्वतंत्रता के प्रश्न के साथ उसे जोड़ना उचित न होगा। एक अत्यन्त संगठित देश में अनेकों कार्य ऐसे होते हैं जो सबके लिए महत्वपूर्ण होते हैं और उनके अभाव में सबको मुशीबतें उठानी पड़ती हैं। अतः हड़ताल का विचार ही संगठनों के बीच न उठे ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की जानी चाहिए। एक उपाय है पञ्च-फैसला और समझौता। दूसरा, जैसा सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तंत्र में होता है—भुखमरी और पुलिस का उत्पीड़न। औद्योगिक समाज की समृद्धि को जीवित रखने के लिए इन दों में एक उपाय अपनाना ही पड़ेगा।

युद्ध तो अन्तिम उपाय है लेकिन सिद्धान्त की दृष्टि से उसका भी यही स्वरूप है। जब दो ही व्यक्तियों तक सीमित द्वन्द्व-युद्ध होता है तो उसकी

अनदेखी की जा सकती है। लेकिन जब बीस करोड़ व्यक्ति एक ओर और बीस करोड़ दूसरी ओर लड़ने को उद्यत होते हैं तो समस्या गंभीर हो जाती है। ज्यों-ज्यों संगठनों का विस्तार होता है युद्ध की भयंकरता भी उसी अनुपात में बढ़ती है। नैपोलियन के ही युद्धों को लीजिये—साधारण जनता का अधिकांश भाग उससे अस्पृष्ट ही रहा था, उनकी दिनचर्या में कोई बाधा न पड़ी थी। आज तो युद्ध छिड़ने पर प्रत्येक स्त्री-पुरुष को किसी न किसी प्रकार के युद्ध कार्य में लगना ही पड़ता है। सारी व्यवस्था ही इतनी जटिल हो गयी है कि युद्ध की समाप्ति पर शान्ति युद्ध से भी भयानक लगने लगती है। पिछले विश्वयुद्ध की समाप्ति से अब तक मध्ययूरोप के असंख्य स्त्री-पुरुष-बालकों की मृत्यु भयानक कष्ट सहते हुए हुई है। करोड़ों व्यक्ति जो जीवित रह गये है वे-घरबार, अपने समाज और परिजनों से विच्छिन्न, बेकार, निराशा से दबे हुए, स्वयं अपने लिए और दूसरों के लिए बोझ बने हुए है। सुसंगठित समाज में पराजय के बाद जब अराजकता की स्थिति आती है तब भी बहुत-कुछ यही दृश्य दिखाई देता है।

हड़ताल की भाँति ही, युद्ध का अधिकार भी, विज्ञान द्वारा संगठित समाज में, बड़ा ही खतरनाक अधिकार है। इन दोनों में से किसी भी अधिकार को निरस्त नहीं किया जा सकता क्योंकि इससे निरंकुशता का मार्ग ही प्रशस्त होगा। लेकिन स्वतंत्रता के नाम पर किसी भी जन-समूह को दूसरों को भीषण क्षति पहुँचाने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। जहाँतक युद्ध का सम्बन्ध है, उन्नीसवीं शताब्दी के उदार विचारक, राष्ट्रों की अमर्यादित प्रभुसत्ता के प्रबल पक्षपाती थे। क्रेमलिन के अधिकारी आज भी इसके प्रबल पक्षपाती हैं। लेकिन इस विचार को छोड़ना ही होगा। राष्ट्रों के सम्बन्धों को कानून की मर्यादा के भीतर रखना ही होगा जिससे कि कोई राष्ट्र स्वयं ही अभियोक्ता और न्यायाधीश न बन बैठे। अगर ऐसा न हुआ तो दुनियाँ फिर एक दिन बर्बरता के युग की ओर लौटेगी। तब विज्ञान और उसकी प्रविधियाँ सब समाप्त हो जायेंगी, और आपस में जो

झगड़े होंगे उनसे अधिक नुकसान की संभावना नहीं रहेगी। यह भी संभव है कि मानव जाति जीवित रहने की कामना करे, समृद्धि की आकांक्षा करे और विनाश से बची रहना चाहे। तब फिर राष्ट्रों की स्वतंत्रता की सीमा निर्धारित करनी ही पड़ेगी।

हम देख चुके हैं कि स्वतंत्रता के प्रश्न पर बिलकुल नये सिरे से विचार करना आवश्यक हो गया है। स्वतंत्रता के अनेक पहलू है। कुछ उसके वाञ्छनीय रूप हैं जो आज संकटग्रस्त हो रहे हैं; कुछ अवाञ्छनीय रूप हैं जिन्हें नियंत्रण में रखना असम्भव होता जा रहा है। दो खतरे तो आज स्पष्ट ही सामने हैं—एक तो अधिकारियों की शक्ति में निरन्तर हो रही वृद्धि तथा व्यक्ति की असहाय अवस्था; दूसरा खतरा है विभिन्न संगठनों का पारस्परिक संघर्ष जो भीषण रूप धारण कर रहा है और अधिकाधिक क्षति की संभावना को बढ़ाता जा रहा है। संगठनों मे आन्तरिक निरंकुशता और बाह्य संघर्ष एक दूसरे के पूरक है। दोनों का एक ही उद्गम है शक्ति की लालसा। जो भी राज्य आन्तरिक शासन मे निरंकुश होगा, बाह्य रूप में वह युद्ध का प्रबल समर्थक भी दिखाई देगा। दूसरों पर उग्र नियंत्रण रख कर ही वे शासन की बागडोर संभाले रह सकते हैं। हमारे सामने जो दुहरी समस्या है—आन्तरिक स्वतंत्रता की रक्षा और बाह्य स्वतंत्रता का परिसीमन—उसे हल करना ही होगा, और शीघ्र ही हल करना होगा, नहीं तो विज्ञान के युग में जिस प्रकार के परिवर्तन दिखाई दे रहे हैं वे केवल विनाश की ओर ही ले जावेंगे।

इस स्थिति के साथ उलझे हुए सामाजिक मनोविज्ञान पर भी हम क्षण भर विचार कर लें।

संगठनों के दो प्रकार है—एक वे, जिनका लक्ष होता है कुछ निश्चित प्रकार की उपलब्धि; दूसरे वे जो किसी कार्य मे बाधा डालने के निमित्त होते हैं। पहिली कोटि में हम डाकखानों को ले सकते हैं, दूसरी कोटि में फायर ब्रिगेड को। इन दोनों संगठनों के विषय में कोई विवाद की संभा-

बना नहीं हो सकती। एक स्थान से पत्र दूसरे स्थान को ले जाये जाँय इस-पर किसी को क्या आपत्ति हो सकती है। आग लगाने वालों से इमारतों की रक्षा की जाय इससे भी किसी की असहमति नहीं हो सकती। लेकिन जिस कार्य को, यदि वह प्राकृतिक न हो बल्कि मनुष्यकृत हो, रोकना है, तो अनेक समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। किसी भी राष्ट्र की सशस्त्र सेनाएँ इसलिए होती हैं कि अन्य सेनाओं के आक्रमण से अपने देश की रक्षा कर सकें। लेकिन इनके साथ ही अनेक लोग यह विश्वास कर लेते हैं कि दूसरे देश की सेना केवल आक्रमण के लिए होती है, आत्मरक्षा के लिए नहीं। अगर आप एक भी शब्द अपने देश की सेना के विरुद्ध कहेंगे तो सब की दृष्टि में आप देशद्रोही सिद्ध होंगे। आप किसी अन्य देश की सेना की आव-श्यकताओं को उचित ठहराने लगें तब भो आप प्रकारान्तर से अपने ही देश की बुराई कर रहे हैं। आपको अस्वस्थ तथा विकृत मनोवृत्ति का व्यक्ति समझा जायेगा। आपका अपना देश तो सदा ही शान्ति का पुजारी रहा है। इस प्रकार के विचार कि 'जर्मनी अत्यन्त शान्तिप्रिय देश है' मैंने एक जर्मन महिला से १९३६ में सुने थे। यह महिला हिटलर की शान्ति-प्रियता की चर्चा करते न थकती थी।

सभी युद्धप्रिय संगठनों के सम्बन्ध में यह बात लागू होती है। मेरा वह माली किसी भी हालत में अपने यूनियन की आलोचना न करता क्योंकि इससे यूनियन के विरोधियों को ही तो बल मिलता। जिन लोगों ने उत्तेजित मन से किसी प्रकार के राजनीतिक विचार स्वीकार कर रखे हैं उनपर दुबारा चिन्तन करना उनके लिए दुष्कर कार्य है। विरोधी नेताओं के सद्गुणों को स्वीकार करना उनके लिए संभव नहीं है।

ऐसे संगठनों के सदस्य जो संघर्ष के लिए उत्पन्न हुए हैं अपने पदाधि-कारियों की आलोचना करने को उत्सुक नहीं दिखाई देते। जब इन पदा-धिकारियों को बलपूर्वक अपदस्थ कर दिया जाता है तब ये सदस्य इसी लिए विरोध नहीं करते कि उनकी मनोवृत्ति ही बदल गई है। इस युद्ध-प्रिय

मनोवृत्ति के कारण अधिकारियों और शासकों को मनचाहे अवसर मिलते रहते हैं। इसलिए स्वभावतः ही अधिकारी और शासक युद्ध-वृत्ति को प्रोत्साहन देते रहते है।

इनसे छुटकारा पाने का एक ही उपाय है कि अधिक से अधिक मत-भेद बल-प्रयोग द्वारा नहीं, वैधानिक उपायों से सुलझाये जाँय। आन्तरिक स्वतंत्रता की रक्षा और बाह्य नियमन साथ-साथ चलते हैं। स्वतंत्रता को मर्यादित करने पर ही कानून के शासन का और जनशक्ति का विस्तार हो सकता है।

इस अध्याय में मैंने जो कुछ कहा है उससे, विज्ञानजन्य लाभों की पर्याप्त झलक नहीं मिलती। यह स्पष्ट है कि आज का औसत अमरीकी नागरिक अठारहवीं शताब्दी के इग्लैण्ड के औसत नागरिक से कहीं अधिक धनी है और इस समृद्धि का एक मात्र कारण है विज्ञान की प्रविधियों का उपयोग। इग्लैण्ड में जो इतनी अधिक समृद्धि नही दिखाई देती उसका एक बड़ा कारण यह है कि उसने अपनी समृद्धि का एक बड़ा भाग जर्मनों की हत्या करने में खर्च कर दिया है। यह सब होते हुए भी, इंग्लैण्ड में भी पर्याप्त समृद्धि बढ़ी है। वहाँ आज प्रत्येक व्यक्ति को इतना तो मिल ही जाता है कि वह पूर्णतया स्वस्थ रह सके और दक्षता से कार्य कर सके। अधिकांश व्यक्तियों को अब शीतकाल में ठिठुरना नहीं पड़ता और न सूर्यास्त के बाद अंधेरे में रात काटनी पड़ती है। अब गली और बाजारों में रात-रात भर प्रकाश की जगमगाहट रहती है। सब बच्चों के लिए आज स्कूल जाने की सुविधा है और सबको चिकित्सकों की सहायता उपलब्ध हैं। जीवन तथा सम्पत्ति दोनों ही आज पहिले की तुलना में अधिक सुरक्षित हैं। जनसंख्या का एक अल्पांश ही अब गन्दी बस्तियों में रहता है। यात्रा अधिक सरल और सुखद हो गयी है। आज मनोरंजन की सामग्री सबको सुलभ है। जनस्वास्थ्य में भी आश्चर्य जनक रूप से सुधार हुआ है। केवल इन्हीं कारणों से भी आज का यह युग वाञ्छनीय है। संक्षेप में मैं यह

कहूँगा कि वर्तमान युग, केवल कुछ धनी और कुलीन वर्ग के व्यक्तियों को छोड़, बाकी सबके लिए अधिक अनुकूल है।

ये जो सब लाभ हमें प्राप्त हुए हैं उनका एकमात्र कारण यह है कि आज थोड़े से ही श्रम से पर्याप्त उत्पादन किया जा सकता है। विज्ञान के आगमन के पूर्व यह बात संभव नहीं थी। एक बार मैं पहाड़ी की चोटी पर स्थित एक मकान में रहता था। सघन वृक्षों के कारण वहाँ जलाऊ लकड़ी पर्याप्त मात्रा में मिल सकती थी। लेकिन अपनी आवश्यकता के लिए ईंधन इकट्ठा करने में जितने शारीरिक श्रम की जरूरत थी उससे कहीं कम कठिनाई से लगभग आधे इंग्लैण्ड की यात्रा कर खानों से वैज्ञानिक रीति से निकाला हुआ कोयला मुझे प्राप्त हो जाता था जिस रीति से मैं सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी करता था वह आदिम युग से चला आने वाला तरीका था। प्राचीन काल में एक व्यक्ति करीब-करीब उतना ही उत्पादन करता था जितने से उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी; केवल थोड़े से धनी कुलीन लोग ही विलास का जीवन बिता पाते थे; अपेक्षाकृत कुछ अधिक संस्था में मध्यमवर्गीय लोग सामान्यतया आराम का जीवन बिताते थे; जनता के बड़े भाग को केवल इतना मिलता था जिससे उसकी जीवन यात्रा किसी प्रकार चलती रहती थी। यह सच है कि हम अपने अतिरिक्त श्रम का बुद्धिमानी से उपयोग नहीं करते। हमारे श्रम का काफी बड़ा भाग युद्ध कार्यों के लिये व्यय हो जाता है। लेकिन यह इसलिए हो रहा है कि हमने अपने मतभेदों का, कलह का हल खोजने के लिए 'कानून' की परिधि का विस्तार नहीं किया है। झगड़ों को बलपूर्वक निबटाने का ही एक मात्र उपाय अभी तक हमने अपनाया है। विज्ञान ने हमारी कार्य क्षमता बढ़ाई है और इसलिए जो दुष्परिणाम उत्पन्न हुए हैं वे विगत शताब्दियों की तुलना में अधिक विनाशकारी सिद्ध हुए हैं। पिछले युग में इस प्रकार की अराजकता किसी प्रकार सहन हो जाती थी मगर आज तो सभ्यता का अस्तित्व ही संकटग्रस्त हो गया है। जहाँ स्वतंत्रता अमांगलिक हो जाती है वहाँ सुरक्षा के लिए हमें 'कानून' का ही आश्रय लेना होगा। ●

अध्याय तीन

वर्ग विशेष का शासन और विज्ञान

औलीगार्की से मेरा अभिप्राय उस शासन प्रणाली से है जिसमें अन्तिम रूप से शक्ति एक छोटे से वर्ग के हाथ में—जैसे निर्धनों के बदले धनिकों के, कैथैलिकों के बदले प्रोटेस्टेन्टों के, जनसाधारण के बदले कुलीनों के, स्त्रियों के बदले पुरुषों के, या कालों के बदले गोरों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है। कभी-कभी एक राजनीतिक गुट दूसरे गुट को शासन से वञ्चित कर शक्ति हथिया लेता है। यह भी 'औलीगार्की' का ही रूप है। औलीगार्की किस ढंग की है यह हम उन लोगों की संख्या को देखकर कह सकते हैं जो शासन की परिधि के बाहर रखे गये हैं। औलीगार्की का अतिवादी छोर है निरंकुश राजाशाही।

वर्तमान शताब्दी तक संसार के प्रायः सभी देशों में स्त्रियों को शासन में सम्मिलित करने की प्रथा नहीं चली थी। पिछली शताब्दियों तक विशिष्ट वर्ग के शासन में मुख्य आधार होता था—कुल या सम्पत्ति या जाति। इग्लैण्ड में जब गृह-युद्ध की समाप्ति हुई तो प्यूरिटनों के द्वारा एक

नये क़िस्म की 'औलीगार्की' स्थापित की गयी। इसका नामकरण किया गया—'सन्तों का शासन।' इसमें शस्त्रास्त्र रखने का अधिकार एक छोटे राजनीतिक गुट को मिल गया। शस्त्रों के बल पर यह अल्पसंख्यक दल शासनारूढ़ हो गया। इग्लैण्ड में यद्यपि यह प्रणाली राजवंश के पुनः प्रतिष्ठित होने के बाद समाप्त हो गयी, किन्तु रूस, इटली, जर्मनी में इसे क्रमशः १९१८, १९२२ और १९३३ ई० में फिर से अपनाया गया। आज 'औलीगार्की' का यही सबसे अधिक ऊर्जस्विल रूप बचा हुआ है। इसलिए मैं विस्तार से विचार करूँगा।

हम देख चुके हैं कि किस प्रकार विज्ञान की प्रविधि के कारण संगठनों का महत्व बढ़ जाता है और अधिकारियों की शक्ति के सामने व्यक्ति लगभग असहाय हो जाता है। इससे यह निष्कर्ष तो स्पष्ट ही निकलता है कि विज्ञान से संयुक्त आज की 'औलीगार्की' पिछली किसी भी 'औलीगार्की' से अधिक शक्तिशाली हो गयी है। आज एक और भी प्रवृत्ति हम संगठनों की देखते हैं और इस प्रवृत्ति का विरोध नहीं किया गया तो इसे रोका नहीं जा सकता। यह प्रवृत्ति है संगठनों की एक दूसरे से संयुक्त होकर अन्त में राज्य में विलीन होने की। विज्ञान पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग का शासन स्वभावतः ही अधिनायकीय तन्त्र का स्वरूप ग्रहण करता है। अधिनायकीय तंत्र मे शक्ति के सभी सूत्रों पर राज्य को एकाधिकार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार की एकाश्मीय संरचना मे जन-साधारण को अपनी ओर आकृष्ट करने के अनेक गुण हैं लेकिन मुझे तो इसमे गुणों की अपेक्षा दोष ही अधिक दिखाई देते हैं। चाहे जिस कारण हो, कुछ लोग इस प्रकार की रूसी व्यवस्था को तो वाञ्छनीय समझते हैं किन्तु जर्मनी में होने पर उसकी आलोचना करते हैं। मेरे विचार में इसका कारण केवल यह है कि दोनों देशों में इन पर अलग-अलग नाम के 'लेबल' चिपकाये गये है। इन लेबलों का अपना-अपना आकर्षण है। 'वाम पक्ष' और 'दक्षिण पक्ष' शब्दों को सुनते ही लोगों के मन मे अनुराग और विराग उत्पन्न हो जाता है। वे यह जानने का प्रयत्न नहीं करते कि इन नामों में किसी प्रकार की सार्थकता भी है या नहीं।

प्राचीन इतिहास का अध्ययन यही बताता है कि अल्पसंख्यक वर्ग विशेष का शासन समाज के हित का नहीं, अपने ही हित का विशेष चिन्तन करता है। अतः नैतिक कारणों से उसके प्रति असन्तोष प्रकट करना केवल मूर्खता है। मनुष्य का स्वभाव बहुत बड़ी मात्रा में 'अहं' से परिपूर्ण रहता है। अनेक परिस्थितियों में तो अहंकार के सर्वथा अभाव में मनुष्य का जीवित रहना ही संभव नहीं है। अतीत मे राजनीतिक 'औलीगार्की' के विरोध मे उदार विचार के आन्दोलनों द्वारा जनतंत्र का समर्थन हुआ और आर्थिक औलीगार्की के विरोध के फल-स्वरूप साम्यवाद का जन्म हुआ। यद्यपि अनेक व्यक्तियों ने अल्पसंख्यक शासन के दोषों को पहिचाना तथापि अनेक प्रगतिशील व्यक्ति नवीन प्रकार की शासन-व्यवस्था की स्थापना के तर्क के औचित्य से भी प्रभावित थे। तर्क को इस प्रकार रखा जा सकता है : "हम प्रगतिशील लोग बुद्धिमान् और अच्छे लोग है। हम जानते हैं कि दुनियाँ को किन सुधारों की नितान्त आवश्यकता है। हमारे हाथ में शासन आते ही हम पृथ्वी पर स्वर्ग को ही उतार देंगे।" इस प्रकार अपने ही विवेक और अच्छेपन से विमूढ़ इन लोगों ने एक नयी उत्पीड़क व्यवस्था को जन्म दिया है जो पिछली व्यवस्थाओं से कहीं अधिक उग्र और अति-वादी है। इस नयी शासन-व्यवस्था में विज्ञान का क्या प्रभाव पड़ता है इस प्रश्न पर मैं इस अध्याय में विचार करना चाहता हूँ।

पहिली बात तो यह है कि यह नयी 'औलीगार्की' एक विशेष श्रद्धा को लेकर आविर्भूत हुई है और उसकी यह श्रद्धा सन्देह से परे है। इसलिए वह अपने लिए असीमित शक्ति की मांग करती है। इसी कारण यह व्यवस्था कुछ मोटे सिद्धान्तों पर आधारित होती है। जो भी व्यक्ति इन सिद्धान्तों पर सन्देह करता है वह मानो शासन के नैतिक अधिकार को ही चुनौती देता है। इसलिए वह विद्रोही है। नयी-नयी औलीगार्की मे विरोधी विचारों वाले दल भी अवश्य होंगे। इन विचारों को मानने वाले मतान्ध व्यक्ति भी होंगे और वे शासन को बलपूर्वक अपने अधिकार में लेने के प्रयत्न भी अवश्य करना चाहेंगे। इन प्रतिद्वन्द्वियों का बलपूर्वक दमन शमन करना ही

होगा क्योंकि 'बहुमत' के सिद्धान्त को तो अब विदा ही कर दिया गया है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि अब न प्रेस, न वाद-विवाद, न विचारों की अभिव्यक्ति और न पुस्तकों के प्रकाशन की ही स्वतंत्रता दी जा सकती है। शासन का एक अंग अब यही घोषणा करता रहेगा कि कौन सी चीज स्वीकार्य है, कौन दण्डनीय। मध्यकाल में शारीरिक यन्त्रणाओं द्वारा दण्ड देने का एक अलग विभाग हो था। इतिहास साक्षी है कि अन्ततोगत्वा शासन के इस अंग का कैसा स्वरूप हो जाता है। शक्ति की कामना से प्रेरित यह स्वाभाविक रूप ही बारीक से बारीक अपराधों का पता लगाने के प्रयत्न करेगा। जब 'धार्मिक तन्त्र' ने यूरोप में राजशक्ति को अपने अधीन कर लिया तो दण्डनीय अपराधों के ऐसे बारीक सिद्धान्त ढूंढ निकाले जो बाल की खाल खींचने के समान थे। आधुनिक राज्यों में जब दल विशेष के मतान्ध अनुयायियों के हाथ मे शक्ति केन्द्रित होती है, करीब-करीब इसी प्रकार की प्रवृत्ति देखी जाती है।

लोगों की मानसिक स्थिति को किस हद तक प्रभावित किया जा सकता है यह विज्ञान की प्रविधियों के प्रयोग पर निर्भर है। जहाँ सब बच्चों को स्कूल भेजा जाता हो और सभी स्कूल शासन द्वारा संचालित हों वहाँ बच्चों की दिमागी खिड़कियाँ इस प्रकार बन्द की जा सकती हैं कि वे शासनानुमोदित विचारधारा के प्रतिकूल जा ही न सकें। बिना कागज के किसी प्रकार का मुद्रण और प्रकाशन संभव नहीं है और कागज पर एकाधिकार रहता है राज्य का। शासन का ही एकाधिकार रहता है रेडियो प्रसारण और सिनेमा पर। शासन के विरुद्ध अनधिकृत प्रचार का केवल एक ही तरीका रह जाता है—वह यह कि दबी आवाज में वैयक्तिक स्तर पर लोग एक दूसरे तक अपनी बात पहुँचावें। लेकिन यह तरीका भी खतरे से खाली नहीं है। विज्ञान की सहायता मिलने से गुप्तचर विभाग की क्षमता बहुत बढ़ जाती है। बच्चों को समझाया जाता है कि घर में माता-पिता भी यदि राजद्रोह की बात करें तो, उनका कर्तव्य है, कि अधि-

कारियों को फौरन सूचित करें। कोई व्यक्ति अपने घनिष्ठतम मित्र से भी भेद की बात नहीं कह सकता। उसका मित्र कभी भी पुलिस को सूचना दे सकता है। गुप्तचरों को स्वयं निश्चिन्तता नहीं रहती। अपने अपने कार्यों के प्रति उन्हे सजग रहना पड़ता है। ये बातें काल्पनिक नहीं, आज के युग में प्रतिदिन प्रतिक्षण घट रही घटनाएँ है। मतान्ध अल्पसंख्यकों के शासन मे और क्या आशा की जा सकती है।

आज भी लोग जब प्राचीन काल के कैलीगुला और नीरो के अत्याचारों की कहानियाँ सुनते हैं तो सिहर उठते है। लेकिन आधुनिक युग के नृशंस उत्पीड़कों के कारनामों के आगे ये कहानियाँ फीकी पड़ जाती हैं। रोमन साम्राज्य में केवल कुछ उच्चवंशीय परिवारों को छोड़, अत्यन्त अत्याचारी सम्राटों के शासन में भी जन साधारण का दैनिक जीवन सामान्य गति से चलता रहता था कैलीगुला चाहता था कि उसके दुश्मनों की केवल एक गर्दन होती ! आज आउस्खबिट्ज स्थित हिटलर के संहार कक्षों को देख उसके मन मे कितनी ईर्ष्या हुई होती। नीरो ने अत्यन्त कुशल गुप्तचर विभाग की स्थापना की थी जो राजद्रोहियों का ढूँढ-ढूँढ़ कर पता लगा लेता था। लेकिन अन्त में एक षड़यंत्र द्वारा उसे पराजित ही होना पड़ा। अगर एन. के. वी. डी. जैसा कोई संगठन उसकी रक्षा करता तो नीरो की अन्तिम सांस वृद्धावस्था में चारपाई पर लेटे-लेटे आराम से निकलती। विज्ञान ने नृशंस अधिनायकों को ये कुछ उपहार दिये हैं।

हम देखेंगे कि 'औलीगार्की' के अनुकूल अर्थ-व्यवस्था का स्वरूप कैसा होता है। इग्लैण्ड में उन्नीसवीं शताब्दी में ऐसी अर्थ-व्यवस्था थी। इसका विशद और उत्तम वर्णन आप हेमण्ड के ग्रन्थों में पढ़ सकते हैं। इस व्यवस्था का अन्त भू-स्वामियों और उद्योगपतियों के संघर्ष के कारण हुआ। भूमिपतियों ने शहरों के मजदूरों को अपनाया और उद्योगपतियों ने ग्रामीण मजदूरों को। इसी कारण 'कारखानों के कानून' पास हो सके और 'अनाज कानून' निरस्त किये जा सके। अन्त में हमने जन-तंत्र को अपनाया जिसके

कारण सामान्य रूप से आर्थिक न्याय की प्राप्ति सब के लिए सुलभ हो सकी।

रूस का विकास भिन्न पृष्ठभूमि पर हुआ। शासन व्यवस्था सर्वहारा वर्ग के स्वयंभू नेताओं के हाथ मे आ गयी जो गृहयुद्ध की समाप्ति पर एक सैनिक तानाशाही की स्थापना मे सफल हो गये। धीरे-धीरे अनुत्तरदायी शक्ति के अवश्यम्भावी परिणाम प्रकट होने लगे। जिन लोगों ने सेना और पुलिस पर अधिकार पा लिया था अब उन्हे आर्थिक-न्याय मे जरा भी दिलचस्पी नहीं रही। भूखे किसानों से अनाज छीनने के लिए सैनिक भेजे जाने लगे। लाखों की संख्या मे किसानों की जानें गयीं। इसी प्रकार मजदूरों को हड़ताल करने के अधिकार से वञ्चित किया गया और प्रतिनिधि चुनने का अधिकार भी उनका जाता रहा। अब कम से कम मजदूरी देकर उनसे काम कराया जाने लगा। सेना के अधिकारियों और साधारण सैनिकों के बीच जितना अन्तर सोवियत रूस में है उतना पश्चिमी जर्मनी मे नहीं है। व्यापार के क्षेत्र में भी यही बात दिखाई देती है। महत्व के पदों पर प्रतिष्ठित लोगों का जीवन सामान्य कर्मचारियों के जीवन से कहीं अधिक आराम का है। साधारण कर्मचारी आज भी उतने ही कष्ट में है जितना डेढ़ सौ वर्ष पहिले था। लेकिन कितने ही दूसरों की तुलना में तो हम उसे भाग्यशाली ही कहेंगे।

तथाकथित "स्वतन्त्र श्रम" के पीछे एक और भी श्रम का प्रकार है जिसे कहते है 'बेगार' और 'बन्दी शिविर'। जिन्हें इसका अनुभव हुआ है उनकी दयनीय स्थिति का वर्णन कर सकना असम्भव है। श्रम की अवधि इतनी लम्बी कर दी जाती है कि उसे शरीर सहन नहीं कर सकता; भोजन इतना ही दिया जाता है कि जिससे श्रमिक वर्ष भर या कुछ और अधिक दिन जीवित रह सके। उत्तरी ध्रुव की भयानक सर्दी में उसे जो वस्त्र दिये जाते हैं वे इग्लैण्ड की ग्रीष्म-ऋतु के लिये भी पर्याप्त न होंगे। आधी रात के समय जब संसार गहरी नींद में सोया होता है तब लोग घरों से गिर-

फ्तार किये जाते हैं; न तो उनके विरुद्ध किसी प्रकार का अभियोग चलाया जाता है न उन पर किसी प्रकार के आरोप लगाये जाते हैं; देखते-देखते वे कहाँ विलीन हो गये पता नहीं चलता; परिवार के लोग पूछ-ताछ करते हैं किन्तु उनके पत्रों के उत्तर नहीं दिये जाते। साइबेरिया के किसी कोने मे या श्वेत सागर के तट पर दो एक साल के भीतर ही कठिन परिश्रम और अपर्याप्त भोजन के कारण उनकी मृत्यु हो जाती है। अधिकारियों को इससे चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं क्योंकि अभी तो बहुत बड़ी संख्या में लोग आयेंगे।

शासन में इन भयानक प्रणालियों का आज तेज़ी से विकास हो रहा है। कितने लोगों को बेगार के लिए अज्ञात स्थानों मे भेज दिया गया है इसका ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। कुछ लोगों का अनुमान है कि सोवियत रूस की आबादी का सोलह प्रतिशत बेगार के लिये विवश किया गया है। कम से कम आठ प्रतिशत तो यह संख्या होगी ही ऐसी अधिकांश जानकार व्यक्तियों की मान्यता है। इन शिविरों में काम करने वालों में स्त्रियों और बच्चों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या कहीं अधिक है।

विवशता का यह श्रम सस्ता होने के कारण अधिकारियों की नीति के अनुकूल है। इससे स्वतन्त्र श्रमिकों की मजदूरी की दर घट जाती है। जब तक इस प्रणाली का अन्त नहीं कर दिया जाता इसका विकास होता रहेगा और अन्त में सेना, पुलिस तथा प्रशासनिक अधिकारी हो इससे अस्पृष्ट रह सकेंगे।

राष्ट्रीय आर्थिक विकास की दृष्टि से इस प्रणाली में अनेक लाभ हैं। इसी के कारण बाल्टिक समुद्र की नहर बन पायी है और लकड़ी के बदले देश में विदेशी मशीने आ सकी हैं। इसी प्रणाली के कारण युद्ध सामग्री तैयार करने के लिये अतिरिक्त श्रम प्राप्त हो सका है। इसके कारण राज्य के खिलाफ बगावत करने की हिम्मत पस्त हो जाती है। भविष्य में इसके द्वारा बड़ी-बड़ी योजनाएँ प्रारम्भ की जाएँगी। येनिसी नदी के पानी का,

जो आज आर्कटिक सागर में पहुँच कर वेकार चला जाता है, उपयोग होने लगेगा। परमाणु शक्ति द्वारा इस नदी का बहाव भी मोड़ दिया जायेगा और इसके जल से मध्य एशिया का विस्तृत मरुस्थल उपजाऊ मैदान में परिणत हो सकेगा।

इतना सब कुछ होने पर भी यदि रूस का शासन एक निरंकुश अल्पसंख्यक दल के हाथ में ही रहा तो सामान्य जनता की दशा में विशेष सुधार नहीं होगा। रेडियो-धर्मी धूल ध्रुव प्रदेश की हिम राशि को पिघला कर जल में बदल देगी, पर्वत-शिखरों को नष्ट कर बर्फीली हवाओं को मोड़ा जा सकेगा, लेकिन इन सबके बदले बेगार में पकड़े हुए लोगों को बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ेगी। जब इस अतिरिक्त श्रम का कोई अन्य उपयोग नहीं रहेगा तब युद्ध के लिये तो इसका उपयोग रहेगा ही, जब तक अधिकारियों के आराम के जीवन में बाधा नहीं पड़ती उन्हें इन श्रमिकों की दुर्दशा से चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। मैं समझता हूँ जो बुराइयाँ सोवियत रूस में आज बहुत अधिक बढ़ गई है उनका सभी देशों में विकास होता रहेगा जहाँ विज्ञान की सहायता से शासन सुदृढ़ हो चुका है। अब किसी भी सरकार के लिये नृशंस स्वेच्छाचारी शासन सम्भव हो गया है। विज्ञान के आगमन के पूर्व यह इतना सरल नहीं था। प्रचार के द्वारा भी अब जनता को शासन के अनुकूल बनाना सम्भव हो गया है। सार्वजनिक सभा-भवनों पर और प्रकाशन की सामग्री पर एकाधिकार कर लेने के बाद शासन विरोधियों के प्रचार को असाध्य बना सकता है। आधुनिक शस्त्रास्त्रों की विकरालता ने विद्रोही बनने का उत्साह ही समाप्त कर दिया है। सेना के पर्याप्त समर्थन के बिना आज किसी भी देश में क्रान्ति सफल नहीं हो सकती। सेना को सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान कर वशवर्ती बनाया जा सकता है। साधारण श्रमिकों के जीवन स्तर को निरन्तर गिराने से सैनिकों को आराम का जीवन प्रदान किया जा सकता है। बाहरी हस्तक्षेप न होने पर यह व्यवस्था लम्बी अवधि तक चलायी जा सकती है।

वैज्ञानिक समाज अभी भी अपनी शैशवावस्था में ही है। यहाँ पर हम 'औलीगार्की' की भविष्य की संभावनाओं पर भी विचार कर लें तो इससे लाभ ही होगा।

यह आशा निराधार नहीं कही जा सकती कि मनोविज्ञान और शरीर विज्ञान की प्रगति के साथ साथ शासन को व्यक्ति के विचारों को प्रभावित करने में सुविधायें प्राप्त होंगी। आज तो ये सुविधायें अधिनायकवादी शासनों को भी अप्राप्य ही हैं। फिक्टे (१८वीं शताब्दी का जर्मन दार्शनिक) का कहना था कि शिक्षा का प्रधान उद्देश्य होना चाहिए—स्वतंत्र इच्छा शक्ति का नाश। तभी पाठशाला से निकलने पर छात्र कभी स्वतंत्र चिन्तन नहीं कर सकेंगे। अध्यापक जैसा चाहेगे उसी प्रकार उनके जीवन का निर्माण होगा। फिक्टे ने इस प्रकार चिन्तन जरूर किया था लेकिन इस लक्ष्य की प्राप्ति उसके ज़माने में असम्भव थी। उसने जिस शिक्षा प्रद्धति की श्रेष्ठता स्थापित की थी उससे कार्लमार्क्स का जन्म हुआ। भविष्य में निरंकुश शासकों की शिक्षा के क्षेत्र मे असफलता के कम अवसर मिलेंगे। भोजन, इन्जेक्शन और विधि निषेधों के सम्मिलित उपायों द्वारा शासन 'वाञ्छ-नीय' चरित्रों का निर्माण कर सकेगा। तब शासन की खतरनाक आलोचना करने की प्रवृत्ति ही नहीं रहेगी। चारों ओर जब विपन्नता और अवसाद का वातावरण हो तो किसी को विशेष असन्तोष नहीं होता।

एक अधिनायकीय अतिवादी शासन विज्ञान की सहायता से ऐसे कार्य कर सकता है जिनके विचार से ही रोमहर्षण होता है। रूस के शासकों की अपेक्षा नाजी अधिक विज्ञानाभिमुख थे। कहा जाता है—यद्यपि इस कथन की सचाई की मैं पुष्टि नहीं कर सकता—कि बन्दियों के शिविर में तरह तरह के क्रूर वैज्ञानिक प्रयोग किये जाते थे और असहनीय यातना के कारण अनेक-बार क़ैदियों की मृत्यु हो जाती थी। यदि ये जीवित रह जाते तो नाजी जर्मनी में वैज्ञानिक प्रजनन की विधि अपनायी जाती। जो भी राष्ट्र वैज्ञानिक प्रजनन की प्रणाली अपनायेगा वह एक ही पीढ़ी के अन्दर अन्य राष्ट्रों की

अपेक्षा सैनिक दृष्टि से अधिक सुदृढ़ स्थिति में होगा। यह प्रणाली अनुमानत: कुछ इस प्रकार की होगी : कुछ कुलीन शासकों को छोड़ ९५ प्रतिशत पुरुष और ७० प्रतिशत स्त्रियों का वन्ध्यकरण कर दिया जायेगा। तीस प्रतिशत स्त्रियों से यह अपेक्षा होगी कि वे तोपों और बन्दूकों के भोजन के लिए, अठारह से बयालीस वर्ष तक की अवस्था में, प्रजा का उत्पादन करें। प्राय: प्राकृतिक विधि को छोड़ कृत्रिम गर्भाधान की विधि सन्तानोत्पादन के लिए पसन्द की जायेगी। संयोग-सुख के लिए अवन्धीकृत स्त्री पुरुष उन साथियों को चुन सकेंगे जिनका वन्ध्यकरण हो चुका है।

माता-पिता का चुनाव उनके गुणों के परीक्षण के उपरान्त होगा। कुछ इसलिए 'जनक' बनेंगे कि उनकी शारीरिक गठन सुन्दर और बलिष्ठ हैं; कुछ अपनी बौद्धिक प्रखरता के कारण इस दायित्व के लिए चुने जायेंगे। सबके लिए स्वस्थ होना आवश्यक होगा। केवल उन कुछ गिने-चुने व्यक्तियों को छोड़ जो शासकों के माता-पिता का स्थान लेंगे, अन्य लोगों मे दास-वृत्ति और विनम्रता प्रधान गुण होंगे। प्लेटो के गणराज्य में इस प्रकार की एक झांकी है। बच्चों को माताओं से वियुक्त कर धात्रियों को सौंप दिया जायेगा। कुछ ही काल बीतने पर शासक और शासितों के बीच जन्मजात अन्तर इतना सुस्पष्ट हो उठेगा कि वे दो विभिन्न वर्गों के प्राणी से दिखाई देने लगेंगे। दासों के द्वारा विद्रोह कल्पना के परे की बात हो जायेगी। जिस प्रकार यह कल्पना नहीं की जा सकती कि कभी भेंड़ें संगठित होकर, अपने मांस भक्षण के विरुद्ध विद्रोह करेंगी लगभग उसी प्रकार की स्थिति इन दासों की भी होगी। एजटेक जाति अपने यहाँ ऐसी विदेशी जातियों के कुछ लोगों को रखा करते थे जो नरमांस भक्षी हुआ करते थे। एजटेकों का शासन अधिनायकवादी था।

इस व्यवस्था से जो लोग परिचित हो जायेंगे उनको कौटुम्बिक व्यवस्था उतनी ही विचित्र लगेगी जितनी हमें आज आस्ट्रेलिया की आदिम जातियों के सामाजिक संगठन लगते हैं। शायद फ्रॉयड को अपने ग्रन्थों पर

पुनर्विचार करना पड़ेगा, और मेरा खयाल है एडलर के सिद्धान्त अधिक तर्कसंगत जान पड़ेंगे। श्रमिकों को इतना अधिक काम और इतना नपा-तुला भोजन मिलेगा कि काम समाप्त होते ही उन्हें चारपाई पकड़ने के अलावा दूसरी इच्छा ही शेष नहीं रहेगी। उच्च वर्गीय शासक, विलासिता के आनन्दों से वंचित होने के कारण, कुटुम्ब-व्यवस्था के विघटन के कारण और राज्य के प्रति एकान्त निष्ठा के कारण योगियों की सी मानसिक स्थिति प्राप्त कर लेंगे। वे केवल अधिकार और शक्ति के पुजारी होंगे और इनकी प्राप्ति के लिए किसी भी क्रूरता से पीछे नहीं हटेंगे। निरन्तर नृशंस व्यवहार के कारण उनके स्वभाव में कठोरता पैदा होगी। फिर रोमहर्षक और क्रूरतम यंत्रणाओं के उपाय सोचे जायेंगे।

आज अनेक पाठकों को मेरा कथन एक भयानक दुःस्वप्न से अधिक और कुछ न जान पड़ेगा। लेकिन मेरा निश्चित मत है कि अगर पिछले महायुद्ध में नाजी विजयी हुए होते और संसार में उनकी प्रभुता स्थापित हो गयी होती तो कुछ ही समय में उन्होंने लगभग इसी व्यवस्था को जन्म दिया होता। उन्होंने रूसियों और पोलों को उपरोक्त प्रकार के यंत्र-मानवों में परिणत कर दिया होता, और नाजी साम्राज्य की स्थिति के सुदृढ़ होते ही उन्होंने चीन और अफ्रीका में अपने प्रयोगों का विस्तार किया होता। १९४० और ४४ के वर्षों में जिस प्रकार फ्रान्स के अधिकांश लोग हिटलर के सहयोगी हो गये थे, वही दशा पश्चिमी राष्ट्रों की होती। तीस वर्ष के निरन्तर प्रयोगों के बाद पश्चिमी यूरोप में विद्रोह की भावना सदा के लिए मिट जाती।

विज्ञानजन्य इन विभीषिकाओं से मुक्ति का एक ही उपाय है—'जनतंत्र, लेकिन इसे भी पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति के प्रति उस आदरभाव की आवश्यकता है जिसने 'मानवों के मौलिक अधिकार' के सिद्धान्त को जन्म दिया था। एक निर्विवाद, अटल, सार्वकालिक सिद्धान्त के रूप में यह सभी को स्वीकार्य नहीं होगा।—जैसा बेन्थम ने कहा था—"'मनुष्य के अधिकार' का नारा प्रलाप मात्र है।" यह तो हमें मानना ही

पड़ेगा कि अनेक बार समाज के हित के लिये व्यक्ति का अहित आवश्यक हो जाता है। एक सरल-सा उदाहरण पर्याप्त होगा।—एक विजयिनी सेना नगर की सुरक्षा का वचन देती है लेकिन इसके बदले कुछ नागरिकों को बन्धक के रूप में माँगती है। यदि अधिकारी कुछ व्यक्तियों को शत्रु को सौंप अपने नगर को विनाश से ही बचा सकते हों तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। साधारणतया, 'मनुष्य के अधिकार' समाज के एकाग्र-कल्याण में समाहित हो जाते हैं। इतना मानने के बाद यह भी हमें दृढ़ता से स्वीकार करना होगा कि कुछ ऐसी क्षतियाँ भी हो सकती हैं जिनके लिए 'समाज के कल्याण' की आड में भोले-भाले व्यक्तियों का बलिदान नहीं किया जा सकता। अधिनायक-तंत्र मे शक्तिसम्पन्न अधिकारी समय-समय पर आवश्यकता पड़ते ही व्यक्तिगत हित के सिद्धान्त को तिलाञ्जलि दे सकते हैं। निरंकुश अधिनायकवादी तंत्र का व्यवहार और उसके सिद्धान्त निराले ही होते हैं। व्यवहार में तो यह तंत्र येन केन प्रकारेण सेना और पुलिस पर अधिकार कर अपने नियंत्रण को अधिकाधिक मजबूत करता जाता है। सिद्धान्त पक्ष में इसका एक दूसरा ही रूप सामने आता है। इसके सिद्धान्त की मोटे तौर पर इस प्रकार व्याख्या कर सकते हैं : राज्य या राष्ट्र या समाज जिस हित साधन के लिए बनाये गये है वह हित व्यक्तियों के हित से सर्वथा भिन्न प्रकार का है। इसका व्यक्ति को सीधा अनुभव नहीं होता। इस मत या सिद्धान्त का प्रतिपादन हीगल ने किया था। हीगल ने राज्य को अत्यधिक गौरव प्रदान किया। उसकी यह भी मान्यता थी कि समाज का जैविक-संगठन होना चाहिये। इस प्रकार के सुगठित समाज में ही परिपूर्णता और भव्यता निवास करती है। जिस प्रकार व्यक्ति के, जो एक जैविक इकाई है, विभिन्न अवयवों के अपने विभिन्न हित नहीं हो सकते (उसके पाँव मे पीड़ा हो तो उसे अन्य अवयवों से अलग नहीं किया जा सकता) उसी प्रकार जैविक-समाज में अच्छाई और बुराई पूरे समाज में व्याप्त होती है, न कि उसके अंगों में। अधिनायकी तंत्र का यह सैद्धान्तिक रूप है।

इस सिद्धान्त को मानने में कठिनाई यह है कि यह हठधर्मी के साथ समाज और व्यक्ति को जैविक-संगठन मान उनकी तुलना करने की चेष्टा करता है। शासन में और उन व्यक्तियों में जिनसे वह बना है कोई समानता नहीं है। शासन मे व्यक्ति के समान अनुभूति की क्षमता नहीं होती। न तो विजय से वह उल्लासित होता है न पराजय से विषाद-ग्रस्त। जब कभी राज्य को क्षति पहुँचती है तो सम्पूर्ण संगठन को नहीं उसके कुछ सदस्यों को ही कष्ट की अनुभूति होती है। जहाँ तक एक व्यक्ति के शरीर का सम्बन्ध है, अनुभूति का प्रकार ही भिन्न है।—सभी प्रकार की पीड़ा की अनुभूति केन्द्र पर होती है। अगर शरीर के विभिन्न अवयवों को पीडा होती और उसकी अनुभूति केन्द्रस्थ अहं को नहीं होती तो विभिन्न अवयव अपने अपने हितों की चिन्ता करते हुए दिखाई देते। तब उन्हें ऐसे न्यायालय की आवश्यकता होती जिसे समय-समय पर अपना निर्णय देना पडता। उसके निर्णयानुसार कभी पांव का दावा खारिज होता, कभी हाथ का। लेकिन वस्तुस्थिति दूसरी ही है। व्यक्ति एक नैतिक इकाई है। अवयवों को यह नैतिक महत्व प्रदान नहीं कर सकते। व्यक्तियों के समूह को भी यह नैतिक महत्व नहीं दिया जा सकता। जनसमूह का हित उसके अलग-अलग व्यक्तियों के हितों का ही योग होता है। वह कोई निराला या अपूर्व हित नहीं है। जब यह प्रवंचना फैलायी जाती है कि राजा का अपना स्वतंत्र हित होता है और यह नागरिकों के हित से अलग ही है तो इसका अर्थ केवल यही हो सकता है कि शासक वर्ग का हित शासितों के हित से श्रेष्ठ-तर है। निरंकुश शासन मे ही इस प्रकार के विचार अंकुरित होते हैं।

इन सब कल्पित चित्रणों से अधिक महत्व का एक प्रश्न हमारे सामने है। क्या विज्ञान से संयुक्त अधिनायकीय शासन तन्त्र जन-तन्त्र की तुलना में अधिक स्थायी हो सकता है? क्या उसमें स्थायित्व की क्षमता विद्यमान है?

केवल युद्ध से उत्पन्न संकट को छोड़ मुझे ऐसा अन्य कारण नहीं दीखता जिसके आधार पर इस शासन में अस्थायित्व की कल्पना की जा

सके। हम इतिहास के ग्रन्थों में अनेक बार उन सभ्य और अर्द्ध-सभ्य जातियों का वृत्तान्त पढ़ते हैं जिनमें दास या अर्द्ध-दासों का बहुत बड़ा समुदाय सर्वथा अपने स्वामियों के अधीन रहता था। मनुष्य स्वभाव में भी कोई कारण नहीं दीखता कि वह इस तन्त्र को दीर्घकाल तक जीवित रखने में बाधक हो। विज्ञान की प्रविधियां अल्पसंख्यक वर्ग के निरकुंश शासन को जीवित रखने में सहायक ही होंगी। जब अन्न के भाण्डार पर, पुलिस और सैन्य शक्ति पर शासन का नियंत्रण हो तब शासन को चुनौती दे सकना सरल नहीं है। सेना और पुलिस की स्वामिभक्ति प्राप्त करने के भी उपाय हैं—शासकों की शक्ति का उन्हे भी आंशिक-भागीदार बनाया जाय। विज्ञान-समर्थित अधिनायक तंत्र में आन्तरिक विद्रोह द्वारा शासितों के लिए मुक्ति पाना सरल कार्य नहीं है।

लेकिन युद्ध की स्थिति में अधिनायक तंत्र की दुर्बलता प्रकट होने लगती है। उदाहरण के लिए दो ऐसे देश लें जिनके प्राकृतिक साधन लगभग समान हों। एक में अधिनायकी शासन हो और दूसरे में वैयक्तिक स्वतंत्रता पर आधारित शासन। निश्चय के साथ हम कह सकते हैं कि जिस देश में नागरिक स्वतंत्रता उपलब्ध है वह युद्ध कौशल की दौड़ में अधिनायकी राष्ट्र से आगे निकल जायेगा। हम रूस और जर्मनी दोनों ही देशों में देख चुके हैं कि वैज्ञानिक अनुसन्धान निरंकुश शासन में अधिक नहीं पनप सकता। अगर हिटलर ने यहूदी वैज्ञानिकों को अपने देश से न भगाया होता तो नाजियों की विजय का मार्ग अवरुद्ध न हुआ होता। रूस में अन्न का उत्पादन इसीलिए घटा कि स्टालिन ने शासन को लाइसेंको के सिद्धान्त अपनाने के लिए विवश किया। निकट भविष्य में आणविक विज्ञान में भी शासन हस्तक्षेप करने लगेगा इसकी पूरी संभावना है। मुझे विश्वास है कि अगर आगामी पन्द्रह वर्षों में दूसरा महायुद्ध नहीं हुआ तो रूस की वैज्ञानिक युद्ध-कला पाश्चात्य देशों की तुलना में हीनतर सिद्ध होगी। इस हीनता के लिए प्रधान रूप से उत्तरदायी होगी शासन की निरंकुशता। मेरा तो निश्चित

मत है कि जब तक शक्तिशाली जनतंत्रों का अस्तित्व रहेगा तब तक उन्हीं की अन्तिम विजय होगी। इसी कारण मैं भविष्य के सम्बन्ध मे निराश नहीं हुआ हूँ। विज्ञान समर्थित अधिनायकी शासन का केवल इसी कारण विनाश होगा कि वह सही वैज्ञानिक दृष्टिकोण कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता।

कुछ आगे बढ कर हम भविष्यवाणी करने का साहस करते हैं जिन कारणों से अधिनायकवादी शासन विज्ञान के क्षेत्र में पिछड़ेंगे उन्हीं कारणों से उनके भीतर अन्य दुर्बलताएँ भी उपजेंगी। अधिनायकी शासन प्रत्येक नवीन विचार को सन्देह की दृष्टि से देखेगा। इसके फलस्वरूप नवीन परिस्थितियों से इसका कभी भी पूर्णतया सामञ्जस्य स्थापित नहीं होगा। ज्यों ही शासक वर्ग अपने को सुरक्षित समझने लगेगा त्यों ही आलस्य और प्रमाद उसे घेरेंगे। इसके विपरीत अगर शासक वर्ग ने आस पास मँडराने वाले व्यक्तियों को हतोत्साह नहीं किया तो अन्तर्प्रासादीय षड़यत्रों का संकट सदा ही घेरे रहेगा। रोमन साम्राज्य के अन्तिम दिनों में बार-बार ऐसे अवसर आने लगे थे जब भाग्य के अनुकूल होने पर कोई भी विजयी सेनापति अपने को सम्राट् घोषित कर सकता था। इसीलिए तो सिंहासन पर बैठे हुए सम्राट् के लिए परमावश्यक हो गया कि विजय-यात्रा से लौटने वाले यशस्वी सेनापति को अधिक समय तक जीवित रहने का अवसर न दे। इस प्रकार के जीवन-संकट अधिनायकों के लिए उपस्थित होते ही रहेंगे। हाल की घटनाओं से इस निष्कर्ष की पुष्टि भी हुई है।

इन अनेक कारणों से मेरा दृढ़ विश्वास हो गया है कि विज्ञान-संयुक्त निरंकुश अधिनायकवादी शासन चिरस्थायी नहीं हो सकता। एक ही शर्त उसके स्थायित्व की है, लेकिन शर्त महत्वपूर्ण है। सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डल पर इस व्यवस्था का आधिपत्य स्थापित होने पर यह दीर्घकाल तक जीवित रह सकती है।

●

अध्याय चार

जनतन्त्र और विज्ञान की प्रविधि

'जनतंत्र' शब्द का अर्थ अस्पष्ट हो गया है। एल्व के पूर्व इसका अर्थ है अल्पसंख्यक वर्ग विशेष की सैनिक तानाशाही जो निरंकुश पुलिस शक्ति से समन्वित हो कर कार्य करती हो। एल्व के पश्चिम में इसका अर्थ भिन्न प्रकार का है। यह अर्थ इतना स्पष्ट तो नही है किन्तु साधारणतया इसका अर्थ यह लगाया जाता है—'अन्तिम रूप से राजनीतिक शक्ति देश के समस्त नागरिकों के बीच लगभग समान रूप से वितरित की गयी है। केवल पागल, अपराधी और कुलीन वर्ग के लोग इससे वञ्चित किये गये है।' यह परिभाषा सुस्पष्ट नहीं है क्योंकि 'अन्तिम' शब्द स्वयं में अस्पष्ट है। कल्पना करें कि ब्रिटेन के संविधान में एक साधारण परिवर्तन किया जाता है और वहाँ प्रति पाँच वर्ष में होनेवाले चुनावों के स्थान पर प्रति तीस वर्ष बाद चुनाव होने लगते हैं। केवल इस एक परिवर्तन से ही ब्रिटेन की संसद् जनमत के प्रभाव से इतनी अधिक मुक्त हो जाएगी कि फिर इग्लैण्ड के शासन तंत्र को जनतांत्रिक शासन न कह सकेंगे। अनेक साम्यवादियों के मत में सच्चे जन-तन्त्र में राजनैतिक के साथ साथ आर्थिक शक्ति का भी

सम वितरण होना चाहिए। इन शाब्दिक विवादों को छोड़ हम अपने विषय पर आते हैं—किस प्रकार शक्ति का समान वितरण हो। यह स्पष्ट है कि जन-तंत्र हमारे लिए लक्ष्य की प्राप्ति का एक साधन है।

जब लोग जन-तंत्र की कल्पना करते हैं तो प्रायः ही उसके साथ पर्याप्त मात्रा में व्यक्ति और समष्टि की स्वतंत्रता भी जोड़ देते हैं। धार्मिक अत्याचारों का विचार हमारे मन में नहीं उठता; यद्यपि जिस प्रकार के जनतंत्र का हम पीछे उल्लेख कर आये हैं उसमें धार्मिक असहिष्णुता भी पायी जा सकती है। मेरा यह विचार दृढ़ होता जा रहा है कि 'स्वतंत्रता' शब्द का जो अर्थ १८वीं और १९वीं शताब्दियों में लगाया जाता था ठीक उसी अर्थ में वह आज प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। स्वतंत्रता के स्थान पर मैं 'अभिक्रम के लिए अवसर' इन शब्दों का प्रयोग करना चाहता हूँ। यह शब्दावली मैंने विज्ञान के आधार पर रचित समाज के कारण प्रयुक्त की है।

इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि रूसो और फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के नायकों को 'जनतन्त्र' शब्द से जो प्रेरणा मिलती थी आज वैसी प्रेरणा देने की सामर्थ्य इस शब्द में नहीं रह गयी है। इसका प्रधान कारण तो यह है कि आज वह 'जनतंत्र' हमको उपलब्ध हो गया है। सुधार के नेता सदा ही अपनी बात बढ़ा-चढ़ा कर रखने के अभ्यस्त होते हैं। उनके अनुयायी आशा करने लगते हैं कि उक्त सुधार के साथ ही पृथ्वी पर रामराज्य की स्थापना होगी। लेकिन जब उनकी आशा अपूर्ण ही रह जाती है तो कुछ निश्चित ठोस लाभों के प्राप्त होने पर भी उन्हें निराशा घेरने लगती है। फ्रान्स में लुई १६वें के शासनकाल में लोगों का दृढ़ विश्वास हो गया था कि राष्ट्र में पाई जाने वाली तमाम बुराइयों के कारण हैं सम्राट् और पुरोहितवर्ग। वे बुराइयों के सबसे बड़े स्रोत हैं। इसलिए जनता ने राजा का शिरच्छेद कर दिया और पुरोहितवर्ग को आत्मरक्षार्थ भागना पड़ा। लेकिन जिस स्वर्गोपम सुख की वे आस लगाये बैठे थे वह उन्हें प्राप्त न हो सका। इसलिए उन्होंने सोचा कि सम्राट् में भले ही दोष हों, चक्रवर्ती सम्राट् के प्रतिष्ठित होते ही बुराइयों का अवश्य परिहार होगा।

यही हाल जनतंत्र का हुआ है। इसके प्रमुख विचारक और प्रणेता, बेन्थम और उनके अनुयायी असंदिग्ध स्वर में कहा करते थे कि जनतंत्र के आते ही अनेक बुराइयां अपने आप समाप्त हो जायेंगी। पर्याप्त मात्रा में उनका कथन सच निकला। रूसो आदि अन्य उत्साही विचारकों का कहना था कि जनतंत्र के इससे भी उत्कृष्टतर परिणाम निकल सकते हैं; यद्यपि ऐसी आशा के लिए कोई सुदृढ़ आधार नहीं था। जनतंत्र की सफलताओं को भुला दिया गया क्योंकि उसके द्वारा वे अनेक बुराइयां तब तक दूर हो गयी थीं जिनसे लोग पहिले बहुत असन्तुष्ट थे। परिणाम यह हुआ कि जब कार्लाइल और नीत्स्खे ने जनतंत्र पर कठोर प्रहार किये तो लोग उनके विचारों की ओर आकृष्ट होने लगे। नीत्स्खे का कथन था कि जनतंत्र दासों का आचरण-शास्त्र है। अनेकों के मन में 'अतिमानव' वाली विधारधारा घर करने लगी। 'अतिमानव' या 'विशिष्ट पुरुष' के महत्व को स्वीकार करने का ही नाम फासिस्टवाद है।

'अतिमानव' का आदर्श अराजकतापूर्ण भी है और प्रतिगामी भी। वैज्ञानिक समाज की आवश्यकताओं के साथ उसका सरलता से मेल नहीं हो सकता। लेकिन समाजवाद में एक भिन्न प्रवृत्ति भी है, जो यद्यपि जनतंत्र विरोधी है तथापि आधुनिक औद्योगिक विकास के साथ उसका मेल बैठ जाता है। इसलिए वह विचारणीय भी है। यह प्रवृत्ति न तो 'विशिष्ट पुरुष' के ही महत्व को स्वीकार करती है, न सामान्य जन के महत्व को। इसके लिए विशेष महत्व है संगठनों का। इस विचारधारा के अनुसार व्यक्ति का कुछ भी महत्व नहीं है। महत्व है उन सामाजिक संगठनों का जिनका वह सदस्य है। प्रत्येक संगठन, समाजवाद के अनुसार, सामाजिक शक्ति के किसी रूप का प्रतिनिधित्व करता है और उस शक्ति के अंश में ही व्यक्ति का महत्व है।

इस प्रकार हमारे सामने तीन विचारधारायें हैं और उनसे तीन विभिन्न राजनीतिक शास्त्रों का उद्भव होता है। हम व्यक्ति को तीन दृष्टियों में

किसी एक से देख सकते हैं—(अ) एक सामान्य जन के रूप में, (ब) एक अतिमानव के रूप में, (स) एक विशाल यंत्र के क्षुद्र अवयव के रूप में। पहिला दृष्टिकोण हमें पुराने ढंग के जन-तंत्र की ओर ले जाता है, दूसरा फासिस्टवाद की ओर और तीसरा समाजवाद की ओर। मेरा अपना विचार है कि अगर जनतंत्र को पुनः प्रेरणा का स्रोत बनना है और अपनी क्षमता का प्रदर्शन करना है तो उसे अन्य दो विचारधाराओं में, व्यक्ति को देखने की जो रीति है, उसकी ओर भी ध्यान देना होगा।

विभिन्न परिस्थितियों में प्रत्येक व्यक्ति के ये तीनों रूप प्रकट होते हैं। मान लो कि आप अपने समय के एक सर्व श्रेष्ठ कवि हैं। लेकिन जहाँ तक आपका 'रासनकार्ड' का प्रश्न है या निर्वाचन के समय आप जब 'मत-पत्र' पेटी में अपना मत डालने जाते हैं, तब आप एक सामान्य नागरिक के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आपका जीवन कितना ही सामान्य और एकरस क्यों न हो लेकिन आपके जीवन में ऐसे अवसर आ सकते हैं, और आने की बहुत संभावना है कि आप असाधारण साहस का परिचय दें जैसे कि आप किसी डूबते हुए व्यक्ति को अपने को संकट में डाल कर बचा लें या (जिसकी अधिक संभावना है) आप युद्ध भूमि में वीरोचित मृत्यु लाभ करें। जब आप किसी सामाजिक संगठन के भीतर रहकर कार्य करते हैं, उदाहरण के लिए सेना में, या भूमिगत किसी खदान में, तब एक विशाल यंत्र के अवयव की सी आपकी स्थिति होती है। विज्ञान ने आपके जीवन के बड़े भाग को प्रभावित कर आपका महत्व घटा दिया है। एक अतिमानव या सामान्य-जन के नाते जो आपका प्राप्य है उससे आपको वञ्चित कर दिया है। आधुनिक युग में जो भी जनतंत्र का समर्थन करता है उसके लिए आवश्यक हो गया है कि ऐसी राजनीतिक प्रणाली को विकसित करे जिसमें यह दोष न हों।

किसी भी अच्छी सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति एक साथ अति मानव, सामान्य नागरिक एवं क्षुद्र यंत्रावयव बना ही रहेगा। इन तीनों

स्थितियों मे यदि उसने किसी एक में अपने लिए विशिष्ट स्थान बना लिया हो तो शेप दो में भी उसका कार्य-क्षेत्र सीमित हो जायेगा। श्रेष्ठ पुरुष या अतिमानव के रूप में उसे अभिक्रम के लिए अवसर मिलने चाहिए; सामान्य नागरिक की हैसियत से उसका जीवन सुरक्षित रहना चाहिए; यंत्रावयव के रूप में उसे उपयोगी होना चाहिए। कोई भी राष्ट्र इनमें किसी एक से ही महान् नहीं बन सकता। पोलैण्ड देश में विभाजन के पूर्व सभी लोग श्रेष्ठ पुरुष बन गये थे (कम से कम कुलीनों में तो उनकी गिनती थी ही); मध्य पश्चिम का भू भाग मानो सामान्य नागरिकों के लिए ही बना हो; और रूस में पार्टी के अधिकारी सदस्यों को छोड़ शेप सब की स्थिति यंत्रावयव की सी ही है।

मनुष्य को यन्त्र का एक क्षुद्र अवयव मात्र मानने वाला सिद्धान्त यान्त्रिक दृष्टि से ग्राह्य हो भी तो मानवीय दृष्टि से तीनों में सब से अधिक भयावह है। हम कह चुके है कि यन्त्र के पुर्जे को उपयोगी होना चाहिए। उपयोगी तो होना चाहिए, किन्तु किसलिये ? यह तो आप नहीं कह सकते कि उसे अभिक्रम की वृद्धि के लिए उपयोगी होना चाहिए क्योंकि यन्त्रावयव के समान व्यक्ति की मनोदशा वीरोचित मनोदशा के बिल्कुल विपरीत है। अगर आप कहें कि इसे उपयोगी होना चाहिए मनुष्य के सुख के लिए, तब तो आप यन्त्र को मनुष्य की भावनाओं पर होने वाले उसके प्रभावों के अधीन कर रहे हैं। ऐसा करने का अर्थ होगा यन्त्र वाले सिद्धान्त का परित्याग। केवल यन्त्र पूजा के द्वारा ही आप यन्त्रावयव के सिद्धान्त का औचित्य ठहरा सकते है। आपको तब यन्त्र को ही अन्तिम लक्ष्य बनाना होगा न कि उसके द्वारा किस वस्तु का कितना उत्पादन होता है। तब तो सब लोग सहस्र रजनी चरित्र में वर्णित मनुष्यों की भाँति दानव के आज्ञाकारी दास बनकर रह जाते हैं। इस बात का जरा भी महत्व नहीं रहेगा कि संयंत्र किस वस्तु का उत्पादन करता है। यद्यपि भावना इसी बात की दिखाई देती है कि खाद्य पदार्थों के बदले 'बमों' का

उत्पादन ही अधिक वाञ्छनीय जान पड़ेगा क्योंकि उनके उत्पादन मे और भी जटिल यन्त्रों की आवश्यकता होती है। कालान्तर में लोग संयन्त्र के समक्ष इस प्रकार प्रार्थना करते हुए दिखाई देंगे–"सर्व शक्तिमान, परम कारुणिक यन्त्रराज, हम स्थान-च्युत पथभ्रष्ट 'स्क्रू' की भाँति है, हमने गलतियाँ की है और तुम्हारे द्वारा अनुमोदित श्रेय के मार्ग से हम भटक गये हैं। हमने उन 'नट्स' का उपयोग किया है जो हमारे लिए त्याज्य थे, हमने उन 'नट्स' को छोड़ दिया है जिन्हे हमे उपयोग मे लाना था। अब हमारे भीतर यन्त्र की मनोवृत्ति का भाव ही नहीं रह गया है" इत्यादि इत्यादि।

लेकिन इससे काम चलने का नहीं। यंत्र की मूर्ति पूजा एक विडम्बना है। यन्त्र को उपास्य बनाना शैतान या आधुनिक असुर की पूजा करना है। इससे आप यह न समझें कि मैं एरेब्होनियन जाति की भाँति यंत्रों का बहिष्कार चाहता हूँ। मिश्र के लोग किसी समय वृषभ-पूजा किया करते थे। आधुनिक युग के हम लोग इसे आत्म-प्रवंचना मात्र समझते है। लेकिन ऐसा समझने के साथ हमने बैलों का बहिष्कार नही किया है। मैं तो यंत्रों का विरोध तब करता हूँ जब उन्हे देवता के आसन पर प्रतिष्ठित किया जाता है। चाहे जो भी वस्तु यन्त्रवत् बन जाय, मूल्य यंत्रवत् नहीं बन जाते। यह एक ऐसा तथ्य है जिससे राजनीति के आचार्यों को विस्मृत नहीं करना चाहिए।

लेकिन इन रंगीन कल्पनाओं को यहीं छोड़ हम पुनः अपने प्रधान विषय—जनतंत्र-पर आते है।

विचारणीय तथ्य यह है कि वैज्ञानिक तकनीक ने समाज को अधिकाधिक जैविक स्वरूप प्रदान किया है और इसके परिणाम स्वरूप मनुष्य यंत्र के क्षुद्र अवयव के समान बनता जा रहा है। लेकिन इसे एक गम्भीर बुराई का स्वरूप नहीं लेना है तो ऐसे उपाय निकालने ही पड़ेंगे जिससे मनुष्य केवल यंत्रावयव बनकर न रह जाय। इसका अर्थ यह हुआ कि अभिक्रम की रक्षा होनी चाहिए। लेकिन इस अभिक्रम का स्वरूप अधि-

कांश में मंत्रणा देने का होगा। इस प्रकार के अभिक्रम के लिये संगठनों का शासन यथासंभव जनतांत्रिक आधार पर होना चाहिए। यही नहीं, संघ शासन के सिद्धान्त की इस सीमा तक प्रधानता होनी चाहिए कि प्रत्येक उत्साही व्यक्ति इतना तो विश्वास कर ही सके कि वह उस सामाजिक संगठन को प्रभावित कर सकता है जिसका वह सदस्य है।

वर्तमान में, अपने निर्वाचन क्षेत्रों के विस्तार के कारण जनतंत्र अपने उद्देश्य में स्वयं बाधक बन रहा है। मान लो आप अमेरिका के नागरिक हैं और आपको राष्ट्रपति के निर्वाचन मे गहरी दिलचस्पी है। अगर आप सीनेट या काँग्रेस किसी एक के भी सदस्य हुए तो आप की प्रभावी क्षमता बहुत हो सकती है, लेकिन आप सदस्य होंगे इसकी संभावना प्रति लाख में एक के औसत से अधिक नहीं है। यदि आपके नेतृत्व की सीमा नगर के एक 'वार्ड' तक ही सीमित हो तब भी आप बहुत कुछ कर सकते है। लेकिन एक सामान्य नागरिक के रूप मे तो आप चुनाव के समय केवल अपना 'मत' ही दे सकते है। मैं इस बात को सोच भी नहीं सकता कि कभी भी इस प्रकार राष्ट्रपति का निर्वाचन हुआ है जब कि किसी एक व्यक्ति के मतदान मे भाग न लेने के कारण चुनाव का परिणाम अन्यथा हो गया हो। इस जनतंत्र में भी आप की स्थिति उतनी ही असहाय है जितनी किसी अन्य व्यक्ति की अधिनायकी तंत्र में हो सकती है।

इग्लैण्ड में हालत इतनी बुरी नहीं है क्योंकि वहाँ के आम चुनाव में सारे राष्ट्र को एक निर्वाचन क्षेत्र का रूप नही दिया जाता। १९४५ के चुनाव में मैंने एक ऐसे उम्मीदवार के पक्ष मे काम किया जिसे केवल ४६ मतपत्रों की अधिकता के कारण विजय मिली थी। इसका दूसरा अर्थ यह हुआ कि अगर मेरी सक्रियता ने २४ मतदाताओं को ही प्रभावित किया हो तो मेरी निष्क्रियता के कारण दूसरा ही परिणाम हो सकता था। अगर संसद् में एक ही सदस्य के बढ़ जाने से मजदूर दल की विजय हुई होती तो निश्चय ही मुझे अपने महत्व की प्रतीति हुई होती। उस वर्ष मुझे इतना ही सन्तोष प्राप्त हो सका कि मेरे उम्मीदवार की विजय है।

यदि निर्वाचकों की स्थानीय राजनीति में कुछ भी दिलचस्पी रही होती तो स्थिति और भी अधिक सन्तोषजनक रही होती। बहुत ही कम लोग स्थानीय राजनीति मे रुचि लेते है। इसमे आश्चर्य की बात भी नहीं है क्योंकि अधिकांश समस्याएँ स्थानीय स्तर पर नहीं राष्ट्रीय स्तर पर हल की जाती हैं। यह सचमुच शोचनीय स्थिति है। आज स्थानीय नागरिक-अभिमान की भावना लगभग लुप्त हो गयी है। मध्ययुग में प्रत्येक नगर की आकांक्षा रहती थी कि उसके गिर्जाकर की कीर्ति और उसका गौरव सर्वोपरि चर्चा का विषय बने। इस भावना का जो परिणाम हुआ उसका लाभ हमें आज तक मिल रहा है। आधुनिक काल में भी कहीं-कहीं यह नागरिक-अभिमान दिखाई देता है। स्टौकहोम के नागरिकों को आज अपने निगम के भवन के लिए कितना अभिमान है। लेकिन इग्लैण्ड में किसी भी नगर मे इस प्रकार का अभिमान नहीं दिखाई देता।

उद्योगों में विकेन्द्रीकरण के लिए पर्याप्त अवकाश है। अनेक वर्षो से मजदूर-दल रेल-यातायात के राष्ट्रीयकरण का समर्थन करता आ रहा है और रेलवे के कर्मचारियों का बहुसंख्यक भाग इस विषय मे दल के साथ है। लेकिन अब उनमें बहुतों के विचारों में परिवर्तन दिखाई देने लगा है और उन्हे राजकीय और वैयक्तिक संस्थानों मे बहुत अधिक अन्तर नहीं दिखाई देता। इसलिए रेल-यातायात का राष्ट्रीयकरण अभी उतनी ही दूर है और अनुदार के शासन संभालने पर दोनों के बीच इस समस्या पर झड़पें होती रहेंगी। राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ रेलवे संगठन को सीमित स्वायत्त-शासन मिलना चाहिए और रेलवे प्राधिकरण का संगठन रेल कर्मचारियों द्वारा जनतांत्रिक आधार पर किया जाना चाहिए।

प्रत्येक संघीय व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह होना ही चाहिए कि प्रत्येक इकाई के कार्यक्षेत्र का द्विधा विभाजन हो—गृह विभाग और वैदेशिक विभाग। गृह-विभाग पर प्रत्येक इकाई का संपूर्ण रूप से नियंत्रण रहना चाहिए और संघीय प्राधिकरण का उस क्षेत्र पर नियंत्रण हो जो स्वयं

इकाई के लिए तो वैदेशिक विभाग हो लेकिन संघ के लिए नहीं। इसी प्रकार इस संघीय संगठन को स्वयं एक बड़े संघ में इकाई का स्थान लेना चाहिए। इस क्रम से हम उस जागतिक शासन व्यवस्था तक जा पहुँचेंगे जिसके लिए फिर कोई भी विभाग वैदेशिक नहीं रहेगा। अवश्य ही यह निर्णय करना कि कौन विषय स्थानीय है कौन वैदेशिक सरल कार्य नहीं होगा। लेकिन यह निर्णय, जैसा अमेरिका और आस्ट्रेलिया में होता है, न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र का विषय होगा।

इस सिद्धान्त को भौगोलिक ही नहीं व्यावसायिक क्षेत्रों में भी मान्यता मिलनी चाहिए। प्राचीन काल में जब यात्रा धीमी गति से होती थी और मार्ग सुगम्य नहीं थे, भौगोलिक स्थिति का आज की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व था। वर्तमानकाल में, विशेषतः हमारे जैसे छोटे देश में, अनेक राजकीय कार्यों को श्रमिक-संगठन जैसी संस्थाओं को सौंपने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होनी चाहिए। श्रमिक-संगठन भौगोलिक सीमाओं की उपेक्षा कर व्यवसायों के आधार पर मनुष्यों का वर्गीकरण करते हैं। किसी भी उद्योग के वैदेशिक कार्य क्षेत्र में मुख्य रूप से तीन बातें आयेंगी—कच्चे माल की सुलभता, उसकी मात्रा और तैयार माल का मूल्य निर्धारण। इनके ऊपर उद्योग का नियंत्रण नहीं होना चाहिए। शेष कार्य क्षेत्र में उद्योग की स्वतंत्रता को सीमित करने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार की व्यवस्था में अभिक्रम के लिए पर्याप्त अवसर प्राप्त होते रहेंगे। आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय नियत्रंण तो रहेगा ही। निश्चय ही युद्ध काल में इस व्यवस्था को बनाये रखना बहुत कठिन होगा, और जब तक युद्ध का आसन्न संकट शिर पर मंडराता रहेगा राज्य की प्रभुता से बचना लगभग असंभव ही सा होगा। युद्ध काल में स्वतंत्रता की सीमायें अत्यन्त संकुचित हो जाती हैं। युद्ध ने ही तो मुख्य रूप से आधुनिक राज्य को अत्यधिक शक्तिशाली बना दिया है। जब तक युद्ध का भय सर्वथा नहीं मिट जाता प्रत्येक योजना अनिवार्य रूप से अल्पकालीन कुशलता को

ध्यान में रखकर ही बनती रहेगी। लेकिन मैंने कुछ क्षणों के लिए कल्पना के पंख लगा, युद्ध की विभीषिका से मुक्त उस संसार के सम्बन्ध में विचार करने की धृष्टता की है जिसमें एक सार्वभौम केन्द्रीय प्राधिकरण होगा।

संघीय शासन के सम्बन्ध में मैंने जो ये विचार यहाँ प्रकट किये हैं उनके अतिरिक्त, कुछ विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक दूसरी लाभदायक विधि भी अपनायी जा सकती है। यह उन संगठनों के लिए है जो राज्य के अभिन्न अंग होते हुए भी पर्याप्त स्वतंत्रता का उपभोग करते हैं। उदाहरण के लिए, विश्व विद्यालय, रौयल सोसाइटी, बी० बी० सी० तथा लन्दन बन्दरगाह की व्यवस्था करने वाला नियम इस प्रकार की संस्थायें हैं। इन संस्थाओं और संगठनों का सुचारु रूप से कार्य सम्पादन उसी अवस्था में संभव है जब कि समाज में एक प्रकार की समरसता विद्यमान हो। अगर बी० बी० सी० या रौयल सोसाइटी के अधिकांश पदाधिकारी कम्युनिस्ट दल के सदस्य होंगे तो निश्चय ही इनकी स्वतंत्रता सीमित होने लगेगी। फिलहाल तो दोनों को पर्याप्त स्वायत्तता मिली हुई है और वह सर्वथा वांछनीय भी है। मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि हमारे विश्व विद्यालयों का प्रशासन ऐसे व्यक्तियों के हाथों में है जो सरस्वती के सच्चे उपासक हैं और जो ज्ञान के सच्चे उपासक कम्युनिस्टों के प्रति अत्यन्त उदारता दिखाते हैं। अमेरिका के विश्वविद्यालयों में सरस्वती के वास्तविक आराधकों को व्यवस्था में कुछ भी अधिकार नहीं दिये जाते।

वर्तमान संसार में कला और साहित्य के आराधक एक विचित्र स्थिति में हैं क्योंकि उनको आज भी उतनी ही वैयक्तिक स्वतंत्रता मिली हुई है जितनी प्राचीन काल में प्राप्त थी। जो कलाकार सिनेमा के क्षेत्र में चले गये हैं उन्हें छोड़ अन्य कलाकार और साहित्य-स्रष्टाओं को विज्ञान की तकनीक ने अधिक प्रभावित नहीं किया है। इनमें भी लेखकों को कलाकारों से अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है। अपनी पूँजी समाप्त होने पर कलाकार सार्वजनिक संस्थाओं के संरक्षण पर निर्भर होता जाता है। लेकिन कोई कला-

कार भूख-प्यास सहन करने के लिए तैयार हो तो वह अपनी सर्वोत्तम कला का प्रदर्शन कर सकता है। इससे उसे कौन रोक सकता है ? लेकिन जैसी कि वस्तुस्थिति है कला और साहित्य के स्रष्टाओं की स्थिति आज अनिश्चित है। रूस में तो वे अधिकार-प्राप्त चाटुकारों से अधिक कुछ नहीं रह गये हैं। अन्यत्र भी, थोड़ो ही अवधि के भीतर, जब श्रम सबके लिए अनिवार्य होगा किसी को भी साहित्यस्रष्टा या चित्रकार बनने की अनुमति न मिलेगी। अनुमति के लिए उसे एक दर्जन न्यायाधीशों से प्रमाण-पत्र लाने होंगे। मुझे सन्देह है कि इन सुयोग्य पारखी न्यायाधीशों की साहित्यिक और कला विषयक रुचि सर्वथा दोष मुक्त होगी।

प्राचीन अर्थ में स्वतंत्रता शब्द भौतिक सामग्री की अपेक्षा मानसिक या बौद्धिक सामग्री के सन्दर्भ में अधिक महत्वपूर्ण है। कारण सीधा और स्पष्ट है : किसी भी व्यक्ति की बौद्धिक सम्पत्ति के कारण दूसरे को वञ्चित नहीं होना पड़ता है; भौतिक सम्पत्ति के सन्दर्भ मे स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। जब भोजन सामग्री सीमित मात्रा में उपलब्ध हो और सभी को उसमे शामिल होना हो तो न्यायपूर्ण पद्धति से इसे विभाजित किया जा सकता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि सबको समान भाग दिया जाय। उग्र शारीरिक श्रम करनेवाले एक मजदूर को चारपाई पर लेटने-वाले एक वृद्ध के मुकाबिले अधिक भोजन मिलना ही चाहिए। यह पुराना सिद्धान्त सर्वमान्य ही किया जाना चाहिये कि 'प्रत्येक को उसकी आवश्य-कता के अनुसार मिले।' यहाँ एक कठिनाई आ खड़ी होती है जिसकी ओर साम्यवाद के विरोधियों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। यह कठिनाई है अभिक्रम की। पूँजीवाद में अभिक्रम नष्ट नहीं होता क्योंकि वहाँ भूख से मरने का भय सदा पीछा करता रहता है; समाजवाद मे अभिक्रम जीवित रहता है क्योंकि वहाँ दण्ड की उग्रता का भय पीछा नहीं छोड़ता। जन-तांत्रिक-समाजवाद का समर्थक इन दो में किसी भी स्थिति को पसन्द नहीं करता। लेकिन मेरा अपना मत है कि केवल लोक-सेवा की भावना से ही

कोई उद्योग सुचारु रूप से नहीं चल सकता। सामान्य दिनों में इस उद्देश्य से भी अधिक महत्व का और आवश्यक कोई वैयक्तिक प्रयोजन होना चाहिए। मेरी मान्यता है कि साम्यवाद के साथ सामूहिक लाभ का प्रयोजन संयुक्त किया जा सकता है, और किया जाना भी चाहिए। उदाहरण के लिए हम कोयला उद्योग को ही लें। प्रत्येक वर्ष के प्रारम्भ मे ही राज्य को निश्चय कर लेना चाहिए कि वह विभिन्न प्रकार के कोयले का कितना मूल्य देने को तैयार है। किन उपायों से कोयला निकाला जाय इसकी पूरी स्वतंत्रता उक्त उद्योग को ही रहनी चाहिए। तकनीक की दृष्टि से भी सुधार किये जायेंगे। उनका परिणाम होगा अधिक मात्रा मे कोयले का निकाला जाना और खनिकों के लिए अधिक आराम। इस व्यवस्था मे लाभ का प्रयोजन नये वेश में जीवित रहेगा मगर पुराने दोषों से मुक्त रहेगा। क्रमशः प्रत्येक खदान में इस प्रयोजन के आधार पर कार्य प्रारम्भ किया जा सकता है।

जहाँ तक मानसिक या बौद्धिक सम्पत्ति का सम्बन्ध है न तो न्याय का और न अभिक्रम का ही यहाँ अधिक महत्व है। महत्व है अवसर का। अवश्य ही यह मानना होगा कि अवसर मे जीवन रक्षा का प्रश्न भी सम्मिलित है। उस सीमा तक उसमे भौतिक-सम्पत्ति का समावेश हो ही जाता है। लेकिन अधिकांश व्यक्ति जिनमें बड़ी सृजन शक्ति पाई जाती है, धनोपार्जन में विशेष रुचि नहीं रखते। उन्हे साधारण जीविका ही मिलती रहे तो भी उनका काम चल जाता है। सुकरात की भाँति कार्य पूरा होने पर उन्हें मौत के घाट उतार देने से किसी व्यक्ति की किसी प्रकार की क्षति भी नहीं हो सकती। लेकिन जीवन-काल मे जब शासन द्वारा उनके कार्य में बाधा डाली जाती है तब निश्चय ही उससे अपार क्षति होती है। कभी-कभी शासन द्वारा उन्हें अत्यधिक आदर सम्मान प्रदान कर स्वतंत्र विचार छोड़ने को विवश किया जाता है। कोई भी समाज बिना विद्रोहियों के प्रगतिशील नहीं बन सकता। विज्ञान की तकनीक किसी का विद्रोही

बन सकना ही असंभव किये दे रही है।

इस समस्या से उत्पन्न होनेवाली कठिनाइयाँ बड़ी हैं और वास्तविक भी हैं। मेरे विचार में इनका सर्वतोमुखी कोई हल निकालना संभव भी नहीं है। अमेरिका में आप आणविक शक्ति के क्षेत्र में अच्छे वैज्ञानिक होते हुए भी तब तक काम करने का अवसर नहीं पायेंगे जब तक कि आप राजनीतिक दृष्टि से असन्दिग्ध व्यक्ति स्वीकृत न किये गए हों; रूस में आप विज्ञान के किसी भी क्षेत्र में तब तक काम नहीं पा सकेंगे जब तक कि आप कट्टरपन्थी समाजवादी न हों। विज्ञान में सन्देह से परे होने का अर्थ है स्तालिन के अशिक्षाजन्य पूर्वग्रहों को मान्यता प्रदान करना। विज्ञान के यन्त्र इतने अधिक मूल्य के हो गए हैं कि व्यक्ति के लिए इन्हे खरीद कर स्वतन्त्र रूप से कार्य करना असम्भव हो गया है। पुराने जमाने में एक कानून था और आज भी उसका अस्तित्व है कि जब कोई व्यक्ति अपने ऋण को नहीं चुका सकता और वह दण्डित किया जाता है तब उसके व्यवसाय से सम्बन्धित उपकरणों से उसे वञ्चित नहीं किया जा सकता। जब इन उपकरणों की कीमत कई करोड़ पाउण्ड की होती है तब वैज्ञानिक की स्थिति कितनी असहाय हो जाती है। मैं नहीं समझता कि विद्यमान परिस्थितियों में आणविक विज्ञान के क्षेत्र में अत्यधिक सतर्कता बरतने के कारण शासन को दोषी ठहराया जा सकता है। अगर गाइफौक्स ने जेम्स प्रथम की सरकार से अपने व्यवसाय के निमित्त बारूद की माँग की होती तो शायद ही शासन ने उसके प्रति सहानुभूति दिखाई होती। आणविक क्षेत्र में काम करनेवाले वैज्ञानिक के प्रति सतर्कता बरतना अत्यन्त आवश्यक हो गया है। लेकिन विज्ञान में अत्यधिक अनुदार बनने की माँग सर्वथा अनुचित ही कही जाएगी। यह हमारा सौभाग्य ही है कि वैज्ञानिक की योग्यता की परीक्षा सरलता से ही हो जाती है। अतः वैज्ञानिक को योग्यता के अनुसार अवसर देने में विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए। मेरे विचार में पश्चिमी योरप में वैज्ञानिक के प्रति उदारता का ही व्यवहार होता है लेकिन इस

उदारता की रक्षा करना दिनोंदिन दुःसाध्य होता जा रहा है।

साहित्य और कला के क्षेत्र में समस्या का स्वरूप ही दूसरा है। इसमें स्वतन्त्रता की सम्भावना अधिक है क्योंकि साहित्यकार या कलाकार को मूल्यवान् यन्त्रों की सहायता नहीं चाहिए। इसके अतिरिक्त कला के मूल्य को आँकना भी सरल कार्य नहीं है। पुरानी पीढ़ी के कलाकार और लेखक सदा ही नई पीढ़ी को समझने में भूल करते हैं। यही नहीं वे नवीन कलाकारों का तिरस्कार भी करते हैं यद्यपि कालान्तर में इन्हीं तिरस्कृत कृतियों में आलोचकों की महान् प्रतिभा दिखाई देने लगती है। इस कारण फ्रान्स की अकादमी और राजकीय अकादमी जैसी संस्थाएँ हानिकर नहीं भी हों तो भी अनुपयोगी तो सिद्ध हो ही जाती है। कलाकार की प्रतिभा को समझने की और परखने की कोई विश्वसनीय कसौटी भी नहीं है। जब कलाकार वृद्धावस्था के निकट पहुँच जाता है और उसके कार्य की करीब-करीब समाप्ति होने को आती है तब उसकी कला का मूल्यांकन होने लगता है। समाज उसे केवल अवसर और सहिष्णु व्यवहार प्रदान कर सकता है। हम कैसे इस बात की आशा करें कि समाज, प्रत्येक व्यक्ति को जो चित्र कला को ही जीवन का मुख्य कार्य समझता हो, अनुमति दें और रंगों की लीपापोती के बदले उसके भरण-पोषण का बोझ स्वयं उठायें। मुझे तो इसका एक ही हल दिखाई देता है : कलाकार तब तक किसी अन्य उपयोगी कार्य द्वारा अपना भरण-पोषण करे जब तक कि राज्य उसकी कला को मान्यता प्रदान नहीं करता। उसके लिए आवश्यक होगा कि वह थोड़े समय में कम मजदूरी का कोई काम तलाश कर शेष समय अपनी कला को संवारने में व्यतीत करे। कला के किसी-किसी क्षेत्र में सरलता से उसका काम निकल सकता है : नाटककार अभिनय द्वारा अपनी गुजर कर सकता है; गीतकार स्वयं गायक मण्डली में सम्मिलित हो सकता है। लेकिन प्रारम्भिक दिनों में कलाकार या लेखक को आजीविका के लिए कुछ ऐसा कार्य खोजना ही होगा जिसका मूल्य अधि-

कारियों की दृष्टि में बिल्कुल स्पष्ट हो। यदि उसे अपनी कला के लिए शासन से भरण-पोषण अपेक्षित हो तो उसके मार्ग में पग-पग पर अधिकारी बाधा डालेंगे। अधिक से अधिक शासन से यही आशा की जा सकती है कि अच्छा कार्य करने वाला कोई व्यक्ति दण्डित नहीं होगा।

किसी समय उन सबको निरादर की दृष्टि से देखा जाता था जो रंगीन कल्पनाओं द्वारा पृथ्वी पर स्वर्ग राज्य उतारना चाहते थे। यह समझा जाता था कि ये कल्पनाएँ ऐसे स्वप्नद्रष्टाओं की हैं जो वास्तविकता से भागते हैं। लेकिन हमारे आज के युग में सामाजिक परिवर्तनों की रफ़्तार तेज़ हो गयी है और इसीलिए इन स्वप्नद्रष्टाओं के कार्य का मूल्याङ्कन करना आवश्यक हो गया है। मार्क्स और लेनिन भी तो इसी कोटि के स्वप्नद्रष्टा थे और लेनिन को तो एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर अपने स्वप्नों को साकार करने का गौरव भी प्राप्त हुआ। प्लेटो ने अपने ग्रन्थ में जिस दार्शनिक शासक की कल्पना की है, अब तक के इतिहास में वह बहुत कुछ लेनिन के रूप में साकार हुई है। परिणाम अधिक सन्तोषजनक नहीं निकले क्योंकि मार्क्स और लेनिन से कुछ गलतियाँ हुईं। पाश्चात्य जन-तंत्रवादियों पर उनके आलोचकों द्वारा और कभी-कभी उनके मित्रों द्वारा भी आरोप लगाया जाता है कि उनके पास कोई प्रेरणा देने वाला ऐसा सिद्धान्त नहीं है जो कम्यूनिज्म का मुकाबला कर सके। मेरा कहना है कि इस चुनौती का सामना किया जा सकता है। इसलिए मैं तार्किक विवाद छोड़ एक अच्छे समाज की अपनी कल्पना फिर उपस्थित करना चाहता हूँ। मेरा विश्वास है कि इसके द्वारा जनतांत्रिक साम्यवाद का मार्ग दर्शन किया जा सकता है।

एक सुव्यवस्थित समाज में मनुष्य को (१) उपयोगी होना चाहिए; (२) यथासंभव विपन्नता और दुर्भाग्य से सुरक्षा प्राप्त होनी चाहिए, (३) उसे सभी प्रकार के अभिक्रम के लिए, जो दूसरों के लिए निश्चयात्मक रूप से हानिकारक न हों, अवसर प्राप्त होने चाहिए। ये तीनों ही

शर्तें पूर्ण रूप से मान्य नहीं हो सकतीं। कोई विक्षिप्त व्यक्ति उपयोगी नहीं बन सकता, लेकिन इसी कारण उसे दण्डित नहीं किया जाना चाहिए। युद्ध काल में दुर्भाग्य से बच सकना भी संभव नहीं है। एक बड़े देश-व्यापी संकट के समुपस्थित होने पर, जैसे—अग्निकाण्ड, बाढ़, दैवी प्रकोप के समय—बड़े से बड़े कलाकार को भी अपना कार्य स्थगित कर संघर्ष करना पड़ सकता है।

(१) जब मैं कहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति को उपयोगी होना चाहिए तब मैं उसे समाज के एक सदस्य के रूप में देखते हुए बात कर रहा हूँ और उपयोगी होने का अर्थ है इसका निर्णय भी समाज पर छोड़ता हूँ। कोई बड़ा कवि या सप्तम दिवसीय धर्म प्रचारक भले ही काव्य-रचना या शनिवारीय उपदेश को ही सर्वाधिक उपयोगी कार्य मानता हो लेकिन समाज की राय उससे भिन्न हो सकती है। उस हालत मे उन्हे कुछ दूसरे उपयोगी धन्धे खोजने ही पड़ेंगे। काव्य-रचना या धर्मोपदेश को अवकाश के समय के लिए ही सुरक्षित रखना होगा।

(२) लायड जार्ज के उन सुनहरे दिनों से लेकर आज तक ब्रिटेन की सामाजिक विधि-व्यवस्था के मुख्य उद्देश्यों मे से सुरक्षा भी एक है। बेरोजगारी, बीमारी और वृद्धावस्था के कारण किसी को भी दण्ड दिया जाय यह सर्वथा अनुचित है। इन से होने वाले कष्टों को यथाशक्ति दूर किया जाना चाहिए। समाज को यह अधिकार तो होना ही चाहिये कि वह शारीरिक दृष्टि से समर्थ व्यक्तियों से काम ले और समाज द्वारा उन सब व्यक्तियों का भरण-पोषण भी होना चाहिए जो काम करने के लिए तत्पर हों, भले ही वे काम करने के योग्य हों या न हों। सुरक्षा शब्द में कुछ और भी अर्थ छिपे हुए हैं जैसे किसी भी मनुष्य को अकारण ही बन्दी नहीं बनाया जा सकता है और न कानून या न्यायपालिका की स्वीकृति के बिना किसी की सम्पत्ति का अपहरण किया जा सकता है।

(३) 'अभिक्रम के लिए अवसर' इनसे अधिक पेचीदा प्रश्न है

लेकिन महत्व में किसी प्रकार भी कम नहीं है। साम्यवाद का सैद्धान्तिक आधार उपयोगिता और सुरक्षा से ही निर्मित होता है और अभिक्रम के अभाव में साम्यवादी समाज मे किसी प्रकार की विशेषता ही नहीं दिखाई देगी। आप प्लैटो के 'गणतंत्र' को पढिये या मूर के 'युटोपिया' को—दोनों ही साम्यवादी कृतियाँ है और फिर कुछ समय के लिए आप इन दो में से किसी एक राज्य के सदस्य के रूप में अपने को देखिये। आप जीवन में एक प्रकार की ऊब और विरसता का अनुभव करने लगेंगे। जिस व्यक्ति को जीवन मे कभी भी सुरक्षा नही मिल पायी है उसके लिए यही सर्वोपरि मूल्यवान वस्तु है। लेकिन पर्वतारोहियों की भाषा मे दृष्टान्त देते हुए कहेंगे—सुरक्षा तो आधार के निम्नतम शिविर के समान है जहाँ से भयानक पर्वतारोहण प्रारम्भ ही होता है। दुस्साहस और खतरे के कार्यो में स्वभाव से ही अनेक लोग प्रवृत्त होते है। कोई भी समाज इसकी उपेक्षा कर अधिक दिन जीवित नहीं रह सकता।

विज्ञान के आधार पर निर्मित्त जनतांत्रिक समाज, मनुष्यों से काम लेकर और सुरक्षा प्रदान कर दूर तक वैयक्तिक अभिक्रम के मार्ग में बाधक हो उसे निरुत्साहित करता है। विषमताओं से भरे समाज मे इसकी अपेक्षा अभिक्रम के लिए अधिक अवसर प्राप्त होते है। अस्सी वर्ष पूर्व की ही तो बात है जब कि वान्डरविल्ट और जे गोल्ड दोनों ही ईरी की रेल लाइन पर अपना अपना अधिकार बताते थे; दोनों के पास अपने अपने छापेखाने थे और उनकी सहायता से दोनों ही अपने अपने दावों की पुष्टि करते थे। दोनों ही के साथ भ्रष्टाचारी न्यायाधीशों का एक एक दल था जो उनकी इच्छाओं के अनुकूल निर्णय करने को तैयार रहता था। दोनों प्रतिद्वन्द्वियों ने ही रेल के इंजिनों पर डब्बों पर अपना अधिकार स्थापित कर रखा था। एक निश्चित दिन एक ने लाइन पर एक छोर से अपने इंजिन चलाये तो दूसरे ने दूसरे छोर से इंजिन रवाना कर दिये। दोनों की गाड़ियाँ लाइन के बीचों-बीच एक दूसरे का मार्ग रोक खड़ी हो गयीं। प्रत्येक ने अपने

समर्थन के लिए भाड़े के मजदूर बुला रखे थे। छह घंटे तक दोनों दलों में जमकर लड़ाई हुई। वान्डरविल्ट और जे गोल्ड का मनोरंजन हुआ, पहलवानों को अपनी ताक़त दिखाने का मौका मिला और अमरीकी राष्ट्र ने भी विनोद में हिस्सा बटाया। कुछ ऐसे भी लोग थे जिन्हे इसमें ज़रा भी मजा नहीं आया। ये लोग ईरी की रेललाइन का वास्तव में उपयोग करना चाहते थे। मैंने जब इस घटना का वर्णन पढ़ा तो मैं भी दिल खोल कर हँसा। मनोरंजन के बावजूद भी यह घटना एक निन्दनीय प्रसंग के रूप में चर्चित होती रही। आधुनिक काल में उद्जन बम के द्वारा इस प्रकार का मनोरंजन हो सकता है। शायद वैसा मनोरंजन भी न हो; और अत्यन्त विनाशकारी तो यह विनोद है ही। यदि संसार को शान्ति की राह अपनानी है तो दुस्साहसिक मनोरंजनों के साथ विनाशकारी शक्तियों का संयोग नहीं होना चाहिए।

इसका हल ऐसी प्रतियोगिताओं के लिए अवसर प्रदान करने में है जिनमें हिंसात्मक उपायों का सहारा नहीं लेना पड़ता। जन-तांत्रिक साम्यवाद का यह सर्वोत्तम गुण है। आप साम्यवाद या पूँजीवाद से भले ही घृणा करें लेकिन इस कारण आप अपने विरोधी मि० एटली या मि० चर्चिल की हत्या की योजना नहीं बनाने लगते। आप चुनाव सभाओं में भाषण देकर अपने विचार प्रकट कर सकते हैं और इतने से आप का सन्तोष न हो तो आप स्वयं लोक सभा के लिए निर्वाचित होने का प्रयत्न कर सकते हैं। जब तक पुरानी उदार स्वतंत्रता जीवित है आप प्रचार द्वारा प्रभाव डाल सकते हैं। संप्रचार के द्वारा भी अधिकांश लोगों की संयोधी प्रवृत्तियां शमित हो जाती हैं। लेकिन लेखक या कलाकार की सृजनात्मक प्रवृत्तियां इस प्रकार सन्तुष्ट नहीं की जा सकतीं। साम्यवादी राज्य में उनका एक मात्र हल यही है कि कला के उपासकों को अवकाश का समय स्वतंत्रता से स्वेच्छा से बिताने की छूट हो। यही एक मात्र हल हो सकता है क्योंकि कलाकृतियां कभी कभी भविष्य में अत्यन्त मूल्यवान् समझी जाने लगती हैं। किसी समसामयिक

जीवित कलाकार की कृति का असंदिग्ध रूप से मूल्याङ्कन करने का समाज के पास कोई उपाय नहीं है। यह कोई नहीं बता सकता कि किस की कृति निम्न कोटि की है और किस में अलौकिक प्रतिभा छिपी हुई है। अतः यही कह सकते हैं कि कलात्मक कार्यों को न तो किसी प्रकार अनुबन्धित किया जाय और न उन पर कड़ा पहरा बिठाया जाय। जीवन का कुछ भाग—संभवतः सर्वाधिक महत्व वाला भाग-स्वतंत्र ऐच्छिक प्रवृत्तियों के लिए मुक्त रहना चाहिए। कठोर नियंत्रण और अनुवन्धों में मानसिक और आध्यात्मिक व्यक्तित्व की मृत्यु ही हो जाती है।

●

अध्याय पाँच

विज्ञान और युद्ध

विज्ञान का और युद्ध का पारस्परिक सम्बन्ध धीरे-धीरे अत्यन्त घनिष्ठ हो गया है। २१२ ई० पू० आर्कमिडीज से इस सम्बन्ध का प्रारम्भ हुआ जब उसने अपने चचेरे भाई को जो साइराक्यूज का शासक था, रोमन आक्रमणकारियों के विरुद्ध नगर की रक्षा करने में सहायता पहुँचाई थी। प्लूटार्क ने 'मार्सेलस की जोवनी' नाम के ग्रन्थ में निश्चय ही युद्ध के उस काल के आर्कमिडीज निर्मित संयंत्रों का अतिरंजित और काल्पनिक वर्णन किया है। मैं यहाँ नार्थ की पुस्तक से उद्धरण दे रहा हूँ :

(युद्धारम्भ के पूर्व)

"सम्राट् ने उससे प्रार्थना की कि वह ऐसे संयंत्रों और आयुधों का निर्माण करे जिनके द्वारा शत्रु पर आक्रमण भी किया जाय और जिनका प्रतिरक्षा के लिए भी उपयोग हो सके। ऐसे यंत्र हों जो सभी प्रकार के अवरोधों, व्यूहों और आक्रमणों के विरुद्ध उपयोगी सिद्ध हों। तब आर्कमिडीज ने उसके लिए अनेक संयंत्रों की रचना की, किन्तु सम्राट् हीरन को

इनकी आवश्यकता ही नहीं पड़ी क्योंकि उनके शासन का अधिकांश भाग बिना युद्धों के ही बीत गया। लेकिन आयुधों और संयंत्रों की जो यह योजना बनी उसका अप्रत्याशित रूप से लाभ साइराक्यूज निवासियों को तब मिला जब वहाँ शत्रु ने घेरा डाल दिया। फिर आर्कमिडीज़ ने अपनी कृतियों पर अपना हस्त लाघव प्रदर्शित किया और वे शक्तिशाली महायुध अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट करने लगे। तब वायुमण्डल मे अनगिनती गोले और बड़े-बड़े प्रस्तर-खण्ड सबको विस्मय मे डालते हुए उड़ने लगे। तब अत्यन्त घोर भय उपजाने वाला शब्द हुआ और सहसा इतनी प्रचण्ड आँधी उठने लगी कि भूमि मार्ग से नगर की ओर बढ़ते हुए शत्रुपक्ष के पदाति सैनिकों की गति प्रतिहत हो गयी। शत्रु पक्ष मे जिसने भी आयुध उठाया उसका देखते-देखते आयुध खण्डित हो व्यर्थ हो गया। जिस किसी भी वस्तु पर प्रक्षेपणास्त्र गिरे वह उनके प्रचण्ड दुर्धर्ष वेग को सहन न कर सका। परिणाम वही हुआ जो हो सकता था। शत्रु की पंक्तियाँ अस्त-व्यस्त हो गयीं। समुद्र मार्ग से जो युद्ध पोत आये वे विशाल शहतीरों की मार खा सदा के लिए जलमग्न हो गये। ये शहतीरें इतने वेग से जलपोतों पर गिरीं कि उनके भार और वेग को सहन करना उनके लिए सर्वथा असम्भव था। अनेक भारवाही युद्ध पोतों का लोहे के लम्बे हाथों ने और सारस की चोंचनुमा छल्लों ने पकड़कर इस प्रकार सीधा खड़ा कर दिया कि उनकी सम्पूर्ण सामग्री गिर कर समुद्र में डूब गयी। बड़े-बड़े अनेक युद्धपोतों को यंत्रों से उठा-उठा चर्खी की भाँति आकाश मे घुमाया गया और फिर वेग से चट्टानों पर पटका गया कि वे सहस्रधा खण्डित हो बिखर गये। उन जहाजों में कोई भी व्यक्ति जीवित न बचा। भारी जन-क्षय हुआ। कुछ महायंत्रों ने विशालकाय युद्ध-पोतों को इतनी सरलता से उठा हवा में स्थित कर दिया और फिर इस तेजी से घुमाया कि देखकर रोमांच होता था।....जहाजों को ध्वस्त करने के बाद ये संयंत्र पुनः पानी में भयानक शब्द करते हुए गिर पड़ते थे।" विज्ञान की इन तमाम तकनीकी श्रेष्ठता के बावजूद भी रोम की ही सेनायें विजयिनी हुई और एक साधारण

सैनिक के हाथ से आर्कमिडीज की मृत्यु हुई। हम सरलता से कल्पना कर सकते हैं कि रोम के अहंकारी सेनापति तब कितने प्रसन्न हुए होंगे यह देखकर। एक बार फिर उन पुराने परीक्षित आयुधों और तरीकों ने जिनके द्वारा साम्राज्य को गौरव और प्रतिष्ठा मिली थी कल्पनाओं में विचरने वाले वैज्ञानिकों के नये युद्ध उपकरणों को विफल कर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित की थी।

यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि विज्ञान युद्धों में निर्णायक भाग लेता रहा। ग्रीस देश के आग्नेय अस्त्रों ने ही बैजन्टाइन साम्राज्य को शताब्दियों तक जीवित रखा। तोपखाने ने भूमिपालों के दुर्गों को ध्वस्त कर दिया और अंग्रेजों की धनुर्विद्या की व्यर्थता प्रमाणित कर देवकन्या जोन की अनेक गाथाओं को जन्म दिया। पुनर्जागरण काल में बहुतों ने वैज्ञानिक युद्ध कला मे अपना कौशल प्रदर्शित कर शक्तिशाली पुरुषों की कृपा प्राप्त की। महान् चित्रकार लिओनार्डो के लिये जब आवश्यक हो गया कि वह आजीविका के लिए मिलन के ड्यूक के यहाँ नौकरी तलाशे तो उसने ड्यूक को एक लम्बा पत्र लिखा और दुर्ग निर्माण की कला में जो उसने सुधार किये थे उनका विस्तार से वर्णन किया, और पत्र समाप्त करते हुए यह भी लिख दिया कि उसे थोड़ा चित्रकला का भी ज्ञान है। लियोनार्डो को वह स्थान जिसके लिये उन्होंने प्रार्थना की थी मिल गया। फिर भी मुझे सन्देह है कि ड्यूक ने शायद ही पत्र के अन्तिम वाक्य को पढ़ा होगा। इसी प्रकार का उदाहरण है गैलीलिओ का जब उन्हें ढस्कैनी के महामहिम ड्यूक के यहाँ नौकरी करना आवश्यक हो गया तब उन्हें भरोसा था अपनी गणित सम्बन्धी उन खोजों का जिनके द्वारा तोप के गोलों के प्रक्षेप पथ का पता लगाया जा सकता था। जब फ्रान्स की राज्यक्रान्ति हुई तो उन वैज्ञानिकों को फाँसी के तख्ते से छुटकारा मिल गया जिन्होंने अपने खोजों से युद्ध संचालन में सहायता पहुँचाई थी। इसके विरुद्ध मुझे एक ही वैज्ञानिक का उदाहरण मालूम है। क्रीमिया युद्ध के

दिनों में फैरेडे से विषैली गैसों के उपयोग के बारे में परामर्श किया गया था। उन्होंने उत्तर दिया—विषैली गैसों का बनाना तो सम्भव है लेकिन मानव कल्याण की दृष्टि से उनका इस्तेमाल एक जघन्य अपराध है। उस जमाने में जब कि वैज्ञानिक कौशल अविकसित ही था फैराडे की राय मान्य हुई। लेकिन यह बहुत-बहुत दिनों की बात हो चुकी है।

क्रीमियां के युद्ध का किंगलेक ने काव्य की उस शाखा में वर्णन किया है जैसा वीरगाथा काल में किया जाता था। लेकिन आधुनिक युद्ध तो इस प्रकार का गेय विषय नहीं रह गया है। निस्सन्देह आज भी शौर्य प्रकट करने वाले साहसिक सेनानायक और सैनिकों का अभाव नहीं हुआ है। उनमें अनेक प्राचीन काल के योद्धाओं की भाँति दृढ़ता से मृत्यु का वरण करते हैं, लेकिन वर्तमान युद्ध मे इसका महत्व नहीं रहा है। आणविक विज्ञान के युग में एक वैज्ञानिक पैदल सेना की कई 'डिवीजनों' से अधिक मूल्यवान् है। विज्ञान के बाद युद्ध में सफलता प्रदान करने वाली सर्वोपरि वस्तु साहसिक सेनाएँ नहीं बड़े-बड़े उद्योग हैं। पर्लहार्बर की घटना के बाद क्षण भर के लिये विचार करिये संयुक्त राष्ट्र अमरीका की सफलता पर। जैसा साहस और पराक्रम कोई नहीं दिखा सकता वैसा जापानी सेनाओं ने दिखाया लेकिन उन्हे पराजित होना पड़ा अमरीका की औद्योगिक क्षमता से। आधुनिक राष्ट्रों को यदि युद्ध में विजय पाना हो तो उन्हे आज सैनिक महोत्साह की ओर नहीं फौलाद, तेल और यूरेनियम की ओर देखना होगा।

आधुनिक युद्ध अभी तक, यह नहीं कह सकते, प्राचीन अवैज्ञानिक युगों के युद्धों से अधिक जनक्षय करने वाले हैं क्योंकि एक ओर शस्त्रास्त्रों की भयंकर संहारकारिणी शक्ति की जहाँ वृद्धि हुई है, दूसरी ओर औषधि और स्वास्थ्य विज्ञान की प्रगति ने किसी हद तक इसका परिमार्जन कर दिया है। बहुत अधिक समय नहीं हुआ जब कि रणभूमि के मुकाबिले संक्रामक रोगों से कहीं अधिक जन संहार होता था। जब सेनाशरीब ने यरूशलम का घेरा डाला था तो उसके सैनिकों में १८५,००० एक ही रात्रि में मौत की

गोद में सो गये, और जब वह प्रातःकाल जागा तो देखा चारों ओर जमीन लाशों से पटी है। इसी प्रकार एथेन्स के प्लेग ने पेलोपोनेसिया के युद्ध में निर्णायक भाग लिया। साइराक्यूज और कार्थेज के बीच होने वाले अनेकों युद्धों का (फैसला) अन्त संक्रामक रोगों ने ही किया। बारबारोसा ने लोम्बार्ड लीग को पूर्णरूप से पराजित किया था मगर उसकी सम्पूर्ण सेना संक्रामक रोग से ग्रस्त हुई और नष्ट हो गई। बारबारोसा को छिपकर आल्प्स पर्वतमाला को पारकर प्राण रक्षा करनी पड़ी। हमारी इसी शताब्दी में जो दो महायुद्ध हुए हैं उनकी तुलना मे कही अधिक जनक्षय उक्त आक्रमणों में हुआ था। मैं यह नही कह रहा हूँ कि भविष्य में होने वाले युद्ध अभियानों में मृतकों की संख्या इतनी ही कम होगी जितनी इन दो पिछले महा युद्धों में। इस विषय पर मैं शीघ्र ही विचार करूँगा। मैं तो केवल यही कह रहा हूँ जिसे बहुत से लोग अभी भी नहीं समझते, कि आज की अवधि तक विज्ञान ने वर्तमान युद्ध को पहिले के युद्धों से अधिक क्षयकारी नहीं बनाया है।

लेकिन अनेक दूसरी दृष्टियों से युद्ध की बुराइयाँ बहुत अधिक बढ़ गई हैं। फ्रान्स सन् १७९२ से १८१५ तक, लगभग पूरे समय युद्ध मे उलझा रहा और अन्त में पराजित हुआ। लेकिन फिर भी १८१५ के बाद फ्रान्स की जनसंख्या की वैसी दुरवस्था नहीं हुई जैसी १९४५ के उपरान्त पूरे मध्य यूरोप की हुई। आज का कोई भी राष्ट्र जब युद्ध मे उलझ जाता है तब वह अत्यधिक संगठित, अत्यधिक अनुशासित होता है और विजय लाभ की इच्छा से अपना सब कुछ युद्ध प्रयत्नों में लगा देता है। यह बात औद्योगिक युग के पहिले सम्भव ही न थी। अतः जब पराजय होती है तो उसका परिणाम सामान्य जनों के लिये अत्यधिक गम्भीर अत्यधिक विघटनकारी और अत्यधिक अनैतिकता को जन्म देने वाला होता है। नैपोलियन के युग में इस परिणाम की कल्पना भी नहीं कर सकते थे।

लेकिन इस विषय में कोई सामान्य नियम बनाना संभव नहीं है।

प्राचीन काल के कुछ युद्ध विजित देशों की संस्कृति के लिए अत्यन्त विनाश-कारी सिद्ध हुए थे। रोमन साम्राज्य के युग में उत्तरी अफ्रीका में जैसी समृद्धि देखी गयी थी वैसी फिर कभी नहीं देखी गयी। न तो मंगोलों के आक्रमण के बाद फिर फारस कभी संभला और न तुर्कों के आक्रमण के बाद फिर कभी सीरिया संभला। सदा से ही युद्धों की दो किस्में रही हैं—एक तो वे जिनके कारण पराजित राष्ट्रों पद मानो कहर ही टूट पड़ता था, दूसरे वे जिनमें उन्हें केवल कष्ट झेलने पड़ते थे। यह हमारा दुर्भाग्य है जो हम प्रथम कोटि के युग में प्रवेश कर रहे हैं।

परमाणु और उद्जन बमों ने नयी विभीषिकाओं को जन्म दिया है जिनसे विज्ञान के भविष्य के सम्बन्ध में तरह-तरह के सन्देह मन में उठने लगे हैं। कुछ महान् वैज्ञानिकों ने जिनमें आयन्स्टीन भी सम्मिलित हैं आशंका प्रकट की है कि संभवतः युद्धों के कारण कभी इस पृथ्वी पर जीवन का चिह्न तक नहीं दिखाई देगा। स्वयं मेरा अनुमान है कि आगामी युद्ध में तो नहीं, लेकिन उसके बाद भी यदि हम न चेते और हमने युद्ध के लिए अवकाश रखा तो यह आशंका साकार हो सकती है। यदि यह आशंका सही निकली तो हमें आगामी पचास वर्षों में दो में किसी एक विकल्प को चुनना होगा। या तो हमें मानव जाति के समग्र विनाश की स्वीकृति देनी होगी, नहीं तो कुछ भयानक स्वतन्त्रताओं का मोह छोड़ना होगा। आज हमें तबीयत भर विदेशियों को मारने-काटने की स्वतंत्रता प्राप्त है। अधिक संभावना मुझे यही दीखती है कि मनुष्य जाति अपने विनाश को स्वीकार कर लेगी मगर अपनी इस स्वतंत्रता को छोड़ने वाली नहीं है। प्रथम विकल्प को चुनते हुए भी हम अपने को यही विश्वास दिलाते रहेंगे कि हमने ऐसा कोई चुनाव नहीं किया है। दोनों पक्ष के संयोधी यही कहेंगे कि युद्ध में सत्य की ही विजय होगी और इसीलिए जागतिक विनाश का संकट आ ही नहीं सकता। संभवतः हम मानव जाति के इतिहास के अन्तिम चरण में जी रहे हैं और यदि यह अनुमान सच हो

तो अपने विनाश के लिए मनुष्य विज्ञान का ही ऋणी होगा।

लेकिन यदि मानव जाति ने जीवन प्रवाह की अक्षुण्णता बनाये रखने का निश्चय किया तो उसे अपने चिंतन, अनुभूति और व्यवहार की रीतियों में आमूल परिवर्तन करना पड़ेगा। तब हमें, 'नहीं, ऐसा नहीं होगा', 'अपकीर्ति के बदले हमें मृत्यु प्यारी है,' इस प्रकार की भाषा भुला देनी पड़ेगी। हमें कानून के आगे आत्म-समर्पण करना ही होगा भले ही वह कानून उन विदेशियों द्वारा हम पर थोपा गया हो जिनसे हम हृदय से घृणा करते हैं, जिनके प्रति हमें अनादर है और जो हमारी धारणा के अनुसार एकदम मिथ्याचारी और अनीति के उपासक हैं। हम कुछ वास्तविक उदाहरण देकर अपने कथन को स्पष्ट करेंगे। यहूदियों और अरबों को पंच-निर्णय के लिए स्वीकृति देनी ही पड़ेगी। अगर निर्णय यहूदियों के विरुद्ध हुआ तो अमरीका के राष्ट्रपति को, चुनाव में न्यूयार्क के यहूदियों के मतों से वञ्चित होने का खतरा उठाते हुए भी निर्णय का अनुमोदन करना ही होगा। यदि अन्ताराष्ट्रिय पंच-निर्णय यहूदियों के पक्ष में हुआ तो इससे सम्पूर्ण इस्लामी दुनिया में असन्तोष होगा और सभी असन्तुष्ट दल उसका साथ देंगे। एक और उदाहरण दे सकते हैं। आयर अलस्टर निवासी प्रोटेस्टेन्ट लोगों के दमन के अपने अधिकार की दुहाई देने लगेगा और तब संयुक्त राज्य अमरीका आयर का समर्थन करेगा और ब्रिटेन अलस्टर का। क्या कोई भी अन्ताराष्ट्रिय प्राधिकरण इस प्रकार के मतभेदों के बाद जीवित रहेगा? एक और उदाहरण सामने है। भारत और पाकिस्तान का काश्मीर को लेकर मतैक्य नहीं हो सकता। इसलिए एक रूस का दूसरा संयुक्त राज्य का समर्थन करेगा। इस विवाद में ग्रस्त पक्षों के लिए, 'संसार में जीवन रहता है या नहीं' इसकी अपेक्षा अपनी समस्या का कहीं अधिक महत्व है। तब यह आशा करना कि मानव जाति आत्म-रक्षा का प्रयत्न करेगी दुराशामात्र ही है।

यदि जीवन प्रवाह की गति चलनी ही चाहिये, विज्ञान के बावजूद

भी, तब मानव को अपने आवेशों और विकारों को अनुशासित रखने का पाठ सीखना ही पड़ेगा। अतीत में इसकी आवश्यकता नहीं थी। उन्हें कानून के आगे—चाहे वे उसे कितना ही अन्यायपूर्ण क्यों न समझें—आत्म-समर्पण करना ही होगा। सभी राष्ट्रों को जो न्याय पाने की इच्छा करते हैं एक तटस्थ पंच-अदालत के निर्णय को चाहे वह कितना ही अप्रिय लगे, मानना ही पड़ेगा। मैं नहीं कहता कि यह सरल कार्य है; मैं ऐसी भविष्य-वाणी भी नहीं करता कि ऐसा कभी होगा; मै तो केवल यह कहना चाहता हूँ कि ऐसा यदि न हुआ तो मानव जाति का सर्वनाश होगा और उसका कारण होगा विज्ञान !

पचास वर्ष के भीतर ही हमें असंदिग्ध रूप से इन दो में एक विकल्प को चुनना होगा। विवेक और मृत्यु के बीच हमें एक को चुनना होगा। विवेक से मेरा तात्पर्य है अन्ताराष्ट्रिय प्राधिकरण द्वारा घोषित कानूनों के सामने आत्म समर्पण। मुझे आशंका है कि मानव-जाति मृत्यु का वरण करेगी। मैं कामना करता हूँ कि मेरी आशंका निर्मूल सिद्ध हो।

●

अध्याय छह

विज्ञान और मूल्य

विज्ञान के साथ जिस दर्शन का मेल होता है वह समय-समय पर बदलता रहता है। न्यूटन और उसके समकालीन अंग्रेज वैज्ञानिक का दृढ़ मत था कि विज्ञान उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा का अस्तित्व सिद्ध करता है जिसके विधान का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। उसी परमेश्वर ने गुरुत्वाकर्षण जैसे नियम तथा दूसरे भौतिक नियम बनाये हैं। कौपर्निकस के कथन के बावजूद भी मनुष्य इस विश्व का केन्द्रबिन्दु बना ही रहा। परमात्मा के लिए भी वह मुख्य प्रयोजन का विषय बना रहा। फ्रान्स के अतिवादी दार्शनिक, चर्च से राजनीतिक विरोध होने के कारण, भिन्न विचार रखते रहे। उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया कि नियमों के अस्तित्व के कारण नियामक का भी अस्तित्व सिद्ध होता है। इसके विपरीत उनका मत था कि भौतिकी के नियमों से मनुष्य के समस्त व्यवहार शास्त्र की व्याख्या की जा सकती है। इस विचारधारा ने उन्हे पदार्थवाद की ओर और स्वतंत्र इच्छा शक्ति को अस्वीकार करने की ओर प्रवृत्त किया। उनके मतानुसार सृष्टि विषयक किसी प्रयोजन को सिद्ध नहीं किया जा सकता और मनुष्य

नाम के क्षुद्र जीव का विशेष महत्व भी सिद्ध नहीं होता। जीव की उत्पत्ति तो एक आकस्मिक संयोग का परिणाम मात्र है। विश्व की इस अनन्त विशालता ने उनके चिन्तन को प्रभावित किया और उन्हें विनम्र बना दिया। दैन्य का स्थान इस नयी विनम्रता ने ले लिया। इस भाव को लियोपार्डी की एक छोटी कविता में सुन्दरता से व्यक्त किया गया है। जितनी भी कविताएँ मैंने पढ़ी हैं उन सबसे अधिक इस छंद ने इस सृष्टि एवं मानवीय विकारों के सम्बन्ध में मेरी भावना को व्यक्त कर दिया है।

अनन्त

"कितना प्रेम रहा मुझे इस एकान्त अनन्त पहाड़ी से। कितना अपनत्व रहा मुझे इस भित्ति से जिसने अन्तिम क्षितिज का विपुल विस्तार मेरे दृष्टिपथ से बाहर कर दिया है। इस छोटी परिधि के भीतर बैठा हुआ मैं अनन्त महाकाश का चिन्तन करता हूँ, और उसके भी पार जो अपार्थिव गंभीर निस्तब्धता और नीरवता व्याप्त है उसके विचार से ही हृदय गहरी निराशा में डूब जाता है। सामने खड़े वृक्षों की शाखाओं से जो हवा की सनसनाहट सुनाई देती है उसकी तुलना उस अखण्ड व्याप्त नीरवता से करने लगता हूँ। फिर अनन्त का विचार आता है जिसमें कितने युगों का मन्वन्तरों का अवसान हुआ है, और जीवित है यह वर्तमान की क्षुद्र हलचल और उससे उत्पन्न ध्वनि। इस अन्तहीन विस्तार में मन सिहरकर निश्चेष्ट हुआ जाता है। महासागर की इस अतल गहराई में डूबने में कितना आनन्द है!"

लेकिन भावना को व्याप्त करने का यह तरीका भी अब पुराना पड़ गया है। कुछ समय पूर्व हम विज्ञान को आदर की दृष्टि से देखते थे क्योंकि उसके द्वारा हमें संसार के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। अब नयी-नयी तकनीकी सफलता के कारण यह विचार अधिक व्यापक और मान्य होता जा रहा है कि विज्ञान की सहायता से संसार को बदला जा सकता है। इस नये दृष्टिकोण को, जिसे अमेरिका और रूस में क्रियात्मक रूप से

स्वीकार किया गया और जिसे सिद्धान्त रूप में अनेक आधुनिक दार्शनिकों ने स्वीकार किया है, सर्वप्रथम मार्क्स ने १८४५ में अपने ग्रन्थ 'फ्यूअर बैक की समीक्षा' में प्रतिपादित किया था।

मार्क्स कहता है :

'यह प्रश्न कि निरपेक्ष सत्य जिसका सम्बन्ध मनुष्य के चिन्तन से है एक सैद्धान्तिक प्रश्न ही नहीं बल्कि एक व्यावहारिक प्रश्न भी है। निरपेक्ष सत्य, अर्थात् विचार या संकल्पना की वास्तविकता और शक्ति, यदि कही है तो उसको व्यवहार में सिद्ध करना होगा। विचार को व्यवहार से विच्छिन्न कर, उसके स्वरूप पर वादविवाद केवल पाण्डित्य प्रदर्शन मात्र है। दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार सृष्टि के प्रयोजन को समझाने के लिए अब तक प्रयत्न किये हैं लेकिन महत्वपूर्ण कार्य है संसार को बदलने का।"

तकनीकी दर्शनशास्त्र की दृष्टि से इस सिद्धान्त की सुन्दर व्याख्या जौन डैवी ने की है जिसका यश आज अमेरिका के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक के रूप में सर्वत्र फैला हुआ है।

इस दर्शन के दो पक्ष हैं—एक सैद्धान्तिक और दूसरा आचारिक। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से इस दर्शनशास्त्र में 'सत्य' का विश्लेषण किया गया है और इस शब्द के स्थान पर 'उपयोगिता' शब्द स्वीकृत किया गया है। ऐसा समझा जाता है कि अगर आपने विश्वास कर लिया हो कि सीजर ने रुविकोन को पार किया था तो आपका विश्वास सही है क्योंकि सीजर ने वास्तव में रुविकोन को पार किया था। हमारे ये नये उपयोगितावादी दार्शनिक कहते हैं, 'नहो, ऐसी बात नहीं है। तुम्हारा विश्वास सही है का अर्थ केवल यह है कि जो तुम कह रहे हो वह तुम्हारे लिए विपरीत-विश्वास की अपेक्षा अधिक लाभदायक सिद्ध होगा।' यहाँ मैं अपनी ओर से थोड़ी आपत्ति जताते हुए कहूँगा कि लोगों ने लम्बे अर्से तक अनेक ऐतिहासिक विश्वास स्वीकार किये हैं लेकिन अन्त में वे मिथ्या सिद्ध हुए हैं। ऐसी धारणाओं के सम्बन्ध में केवल इतना ही कह सकते हैं कि प्रत्येक

परीक्षार्थी के लिए अपने समय की मान्य धारणाएँ भविष्य में सत्य सिद्ध होने वाली धारणाओं की अपेक्षा अधिक उपयोगी होंगी। इस प्रकार के तर्क पर हम यह कहेंगे कि कोई भी विश्वास जो किसी एक समय सत्य के रूप में स्वीकृत हुआ हो वही किसी अन्य समय 'मिथ्या' हो सकता है। सन् १९२० में यह प्रामाणिक सत्य माना जाता था कि ट्रौट्स्की ने रूसी क्रान्ति में महत्वपूर्ण योग दिया था। १९३० में यह 'असत्य' सिद्ध कर दिया गया। जौर्ज और्वेल के '१९९४' नामक ग्रन्थ में इस दृष्टिकोण का सुन्दर विश्लेषण किया गया है।

इस दर्शन को विज्ञान से नाना भाँति प्रेरणा मिली है। सबसे पहिले हम इसके रुचिकर और ग्राह्य पक्ष को लें जिसकी उत्कृष्ट व्याख्या डेवी द्वारा हुई है। उनका कहना है कि विज्ञान के सिद्धान्त समय समय पर बदलते रहते हैं। कोई भी सिद्धान्त इसलिए ग्राह्य होता है कि वह व्यवहार में उपयोगी सिद्ध होता है। ज्ञान के नये नये विषय जब दृष्टिगोचर होते हैं तब पुराने सिद्धान्तों का परित्याग करना पड़ता है। डेवी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'सिद्धान्त' एक कामचलाऊ उपकरण की तरह है। यह कच्चे माल को नया रूप प्रदान करता है। यंत्र या उपकरण की ही भाँति, उसकी क्षमता को देख, उसे अच्छा या बुरा कहा जाता है और उपकरण की ही भाँति इसे किसी समय अच्छा तो किसी समय बुरा कहते हैं। जब तक यह उपयोगी है तब तक इसे 'सत्य' कहते हैं। लेकिन 'सत्य' के परम्परागत अर्थ के स्थान में डेवी 'प्रमाणित गुण निर्देश' शब्दों को अधिक उपयुक्त समझता है।

इस सिद्धान्त का दूसरा उद्भव-स्थान है तकनीक। हम विद्युत के सम्बन्ध में क्या जानना चाहते हैं?—केवल इतना ही कि किस प्रकार हमारे लिए इसका उपयोग हो। इससे अधिक कुछ जानने की इच्छा व्यर्थ के रहस्यवाद में गोता लगाने के समान है। विज्ञान इसलिए श्लाघ्य है कि उससे हमें प्रकृति पर विजय पाने की शक्ति प्राप्त होती है। केवल उपयोगी

सार भाग को ग्रहण कर, अनावश्यक भार को अग्राह्य करने वाले तर्क में पर्याप्त बल है।

इस व्यवहारवादी दर्शन का तीसरा प्रमुख आकर्षण है शक्ति का मोह। इसे दूसरे से सर्वथा वियुक्त नहीं किया जा सकता। अधिकांश मनुष्यों की इच्छाएँ और वासनाएँ विभिन्न प्रकार की होती है। किसी के लिए इन्द्रियजन्य सुखों में आकर्षण है तो अन्य के लिए सौन्दर्योपासना ही एकान्तिक सत्य है। किसी को गम्भीर चिन्तन और अनुध्यान में आनन्द की प्राप्ति होती है तो किसी दूसरे के लिए पारस्परिक स्नेह बन्धन ही सब कुछ है। कुछ लोगों की दृष्टि में शक्ति ही एकमात्र काम्य विषय है। किसी भी व्यक्ति में इनमें से कोई एक इच्छा दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रबल हो सकती है। यदि तुम्हारे लिए शक्ति ही सर्वाधिक काम्य विषय हो तो तुम मार्क्स के दृष्टिकोण को अपनाओगे जिसमें संसार के रहस्य का पता लगाने की अपेक्षा संसार को बदलना महत्वपूर्ण कार्य है। चिन्तन और मनन के प्रेमियों ने विज्ञान का लक्ष्य ज्ञान की प्राप्ति बताया। आज यांत्रिकी की दुर्धर्ष प्रगति के युग में इस प्रकार के लक्ष्य के लिए स्थान ही नहीं रह गया है। यांत्रिकी मानवीय शक्ति का अत्यधिक विस्तार करती है। इसलिए शक्ति के उपासकों के लिए विज्ञान का यह पक्ष सबसे अधिक आकर्षण की वस्तु है। यदि आप विज्ञान से केवल शक्ति की प्राप्ति चाहते हों तो यह उपयोगितावादी दर्शनशास्त्र आपको सर्वथा सन्तुष्ट कर सकता है। यह दर्शन उन सब दोषों से मुक्त है जिन्हें आप अवाञ्छनीय और व्यर्थ समझते हैं। इससे आपको इतनी अधिक शक्ति मिलती है जिसकी आप कभी आशा नहीं करते थे। यदि किसी भी प्रकार आपने अपने देश की 'आरक्षी व्यवस्था' पर अधिकार प्राप्त कर लिया तो आप की शक्ति की तुलना उन देवताओं से की जा सकती है जो सत्य का निर्माण करते हैं। यह सच है कि आप सूर्य की ऊष्मा को शीतलता में नहीं बदल सकेंगे लेकिन आप 'सूर्य शीतल है' इस कथन पर व्यवहारवादी दर्शनशास्त्र के

सत्य की मुहर लगा इसका प्रचार कर सकेंगे। केवल आपके पास वह संगठन और शक्ति होनी चाहिए जिसके द्वारा आप अपने विरोधियों को मौन कर सकें। सृष्टिकर्ता की शक्ति क्या इससे कुछ अधिक होती है ?

यह अभियंत्री का दर्शनशास्त्र है कहे तो अधिक समीचीन होगा। यह दूसरे सभी दर्शनों से और सामान्य बुद्धि के दर्शन से भिन्न ही प्रकार का है क्योंकि 'सत्य' की परिभाषा करते हुए इसमें 'तथ्य' को मूल आधारभूत संकल्पना के रूप में स्वीकार नहीं किया है। अगर आप कहते हैं कि दक्षिणी ध्रुव प्रदेश ठंडा है तो आप ऐसी बात कह रहे हैं जो परम्परागत दृष्टिकोण से सत्य है। सत्य इसलिए है कि यह एक तथ्य है और तथ्य यह है कि दक्षिणी ध्रुव ठंडा है। यह 'तथ्य' इसलिए नहीं है कि लोगों का इस प्रकार का विश्वास है या कि यह विश्वास लाभप्रद है बल्कि इसलिए कि यह वास्तविकता है। जब इन तथ्यों का या वास्तविकताओं का मनुष्यों से या उनके कार्यों से किसी प्रकार का प्रयोजन न हो तो वे मनुष्य की सीमित शक्ति के द्योतक हैं। हम अपने को एक विचित्र प्रकार के विश्व में पाते हैं और हमें यह भी ज्ञान हो जाता है कि यह किस प्रकार का विश्व है। यह सही है कि हम पृथ्वी की सतह पर या सतह के निकट ही परिवर्तन कर सकते हैं. अन्यत्र नहीं कर सकते। व्यावहारिक लोग अन्यत्र परिवर्तन करना भी नहीं चाहते। इसीलिए वे एक ऐसे दर्शनशास्त्र को सरलता से स्वीकार कर सकते हैं जो पृथ्वी की सतह को ही सम्पूर्ण विश्व मानता हो। लेकिन स्मरण रहे कि इस पृथ्वी के ऊपरी धरातल पर भी हमारी सामर्थ्य सीमित ही है। यह भूल जाना कि हमें चारों ओर से ऐसी वास्तविकताओं ने घेर रखा है जो अधिकांशतः हमारी इच्छाओं के प्रभाव से स्वतन्त्र हैं; एक विक्षिप्त-चित्त की अहम्मन्यता है। विज्ञान की तकनीकी सफलता के परिणाम स्वरूप इस प्रकार के महत्वोन्माद में वृद्धि हुई है इसकी आधुनिक अभिव्यक्ति स्टालिन के इस अविश्वास में है कि वंशागति सोवियत सरकार की आज्ञा की उपेक्षा कर

सकती है। ठीक इसी प्रकार प्राचीन काल में सम्राट् जर्क्सीस ने वरुण देवता पोसीडन को शिक्षा देने के लिये हेलेस्पोन्ट को कोड़े लगाये थे।

सत्य के उपयोगितावादी दर्शन का शक्ति के आकर्षण से आन्तरिक सम्बन्ध है। यदि एक ऐसा सत्य हो जो अ-मानवीय हो, जिसे एक व्यक्ति जानता हो और दूसरा नहीं, तब हम कहेंगे, विवाद का निर्णय उस मान-दण्ड द्वारा किया जाय जो विवादग्रस्त पक्षों से अलिप्त हो। इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप से विवाद का एक न्यायपूर्ण और शान्तिपूर्ण हल सम्भव है। इसके विपरीत कि कौन-सा विवादी सही है और कौन गलत यह जानने का एक ही उपाय हो और वह यह कि दोनों में कौन सफल होता है इसके लिए प्रतीक्षा की जाये, तब तो मैं कहूँगा कि शक्ति-परीक्षा को छोड़ विवादों का निपटाने का कोई दूसरा उपाय ही नहीं रह जाता। अन्ताराष्ट्रिय मामलों में जहाँ विवादी प्रायः ही इतने शक्तिशाली होते है कि बाहरी हस्तक्षेप से स्वतन्त्र रह सकें, ये विचार और भी महत्वपूर्ण हो जाते हैं। आन्तरिक शक्ति की प्राप्ति की भाँति ही अन्ताराष्ट्रिय शान्ति की आशाएँ एक प्रभावशाली और सबल जनमत के निर्माण पर निर्भर करती हैं। यह कहना भ्रामक होगा कि विवाद का निर्णय जनमत की शक्ति से हुआ है। इसके साथ ही यह भी कहना आवश्यक है कि वह शक्ति न्याय के अधीन है। लेकिन ऐसे सबल लोकमत की सम्भावना न्याय के एक ऐसे मापदण्ड की विद्यमानता पर निर्भर करती है जो समाज की इच्छाओं का परिणाम नहीं बल्कि कारण हो; न्याय के ऐसे मापदण्ड की उपयोगितावादी दर्शन से पटरी बैठती नहीं दिखाई देती। यह दर्शन, यद्यपि स्वतन्त्रता और सहिष्णुता से प्रारम्भ होता है, किन्तु धीरे-धीरे अपनी आन्तरिक आवश्यकताओं के कारण शक्ति परीक्षा की ओर और विशाल सेनाओं के निर्माण की ओर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार के विकास के कारण यह घर में जनतन्त्र और बाहर साम्राज्यवाद को समानभाव से स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार राजनीति में भी, यह उपयोगिता या व्यवहारवादी दर्शन युग की आवश्यकताओं के अधिक अनुकूल हो जाता है।

"सारांश यह कि उपयोगितावाद ऐसे व्यक्तियों को अधिक रुचिकर लगता है जिनकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति की सामग्री पृथ्वी के धरातल पर ही उपलब्ध हो जाती है; प्रगति के प्रति जो पूर्णतया आश्वस्त है; जिन्हें मानवीय शक्ति की अमानवीय सीमाओं का ज्ञान नहीं है; जिन्हें अनेक खतरों के होते हुए भी युद्धोन्माद है क्योंकि उन्हे युद्ध से होने वाली विजय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है; जिन्हें धर्म की आवश्यकता ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार उन्हें रेल और बिजली के प्रकाश की आवश्यकता होती है। धर्म उनके लिये इसी जीवन की सन्तुष्टि का एक साधन है, पूर्णता की आकांक्षा को सन्तुष्ट करने वाला कोई अति मानवीय साधन नहीं। लेकिन उन व्यक्तियों के लिये जिन्हे पृथ्वी की खुली खिड़कियों से उस पार वाले विश्व की विशालता की झलक दिखाई देती है, उन व्यक्तियों लिये जिन्हे मनुष्य की सर्वशक्तिमत्ता मे अहंकार के दर्शन होते है, जिन्हें वीतरागियों की वह स्वतन्त्रता चाहिये जो जितेन्द्रियता से प्राप्त होती है न कि नैपोलियन की सी प्रभुता से जो संसार को अपने चरणों पर पड़ा देखना चाहता है,—संक्षेप में, उन व्यक्तियों के लिये जो मनुष्य पूजा को अपर्याप्त मानते हैं, उपयोगितावादी दर्शन का संसार बहुत ही सीमित और संकुचित है। यह ऐसा दर्शन है जिसने जीवन से उन सब वस्तुओं का अपहरण कर लिया है जिनसे जीवन समृद्ध बनता है। इस दर्शन ने मनुष्य को अत्यधिक क्षुद्र बना दिया है क्योंकि जिस विश्व की वह कल्पना करता है उसमें से समस्त सुषमा और भव्यता का लोप हो गया है।"

अब यहाँ पुनरीक्षण करें कि विज्ञान द्वारा मनुष्यों के सुखों में कहाँ तक वृद्धि हुई है, और प्राचीन काल की किन बुराइयों के संवर्धन का खतरा इससे उत्पन्न हो सकता है।

मैं यह कहने की धृष्टता नहीं करूंगा कि रामराज्य की प्राप्ति का कोई सीधा रास्ता मुझे मालूम है। चाहे कैसी भी सामाजिक संस्थाओं का हम निर्माण करें, मृत्यु और बीमारियों से (अवश्य ही ये क्रमशः घटती

जावेंगी) हमारी कभी भी मुक्ति नहीं हो सकेगी; वृद्धावस्था और विक्षिप्तता से भी कभी हमें पूर्णतया छुटकारा नहीं मिलेगा; संकट आते ही रहेंगे और उदासीनता और खिन्नता से भी जीवन को पूर्ण निष्कृति नहीं होगी। जब तक वर्तमान कुटुम्ब व्यवस्था जीवित रहेगी तब तक अतृप्त प्रेम, माता-पिता का उत्पीडन और बच्चों की अकृतज्ञता का भी अन्त न होगा। कुटुम्ब व्यवस्था के स्थान पर यदि और कोई व्यवस्था चलाई गई तो सम्भवतः आज से अधिक भयंकर नये अभिशाप उत्पन्न होंगे। मानवीय जीवन कभी भी विशुद्ध आनन्द से परिपूर्ण नहीं किया जा सकता और अत्यधिक आशावान् होने का अर्थ है निराशा को आमन्त्रित करना। किन्तु जो रंगीन आशाएँ की जा सकती है उनका भी मूल्य कम नहीं है। कल क्या होने वाला है ? मैं इस प्रकार की कोई भविष्य वाणी नहीं कर रहा हूँ। मैं तो केवल संकेत भर करना चाहता हूँ कि क्या अच्छी से अच्छी बात सम्भव है, और वह सम्भव तब होगी जब सब लोग उसकी इच्छा करेंगे।

दो बुराइयाँ ऐसी हैं जो यदि विज्ञान का दुरुपयोग किया गया तो भयंकर रूप धारण कर सकती है—एक है युद्ध, दूसरा अत्याचार। लेकिन यहाँ तो मैं इसकी अप्रिय नहीं, मधुर सम्भावनाओं की ही चर्चा कर रहा हूँ।

विज्ञान से दो प्रकार के वरदान हमें प्राप्त हो सकते हैं। इसके द्वारा अनेक हानिकारी वस्तुओं का अवक्षय और अच्छी वस्तुओं की अभिवृद्धि हो सकती है। सर्व प्रथम हम पहिली बात पर विचार करेंगे।

विज्ञान की सहायता से निर्धनता और श्रम के थकाने वाले घंटों में कमी की जा सकती है। प्रारम्भिक काल के मानव समाज में प्रत्येक व्यक्ति को जीविका के लिए कम से कम दो वर्गमील भूमि की आवश्यकता पड़ती थी। आजीविका के साधन अनिश्चित थे। अतः क्षुधा से होने वाली मृत्युएँ प्रायः ही हुआ करती होंगी। उन दिनों मनुष्य के जीवन में परेशानियों का और बेफिक्री का उसी प्रकार का अनुपात था जैसा आज भी पशुओं के जीवन में हम देखते हैं।

कृषि की खोज मानव इतिहास की एक बड़ी खोज है। यह भी उसी प्रकार की तकनीकी प्रगति थी जैसी आज के युग में औद्योगिकी में पाई जाती है। कृषि में जो उपाय काम में लाये गये वे हमारे युग के लिए सावधान रहने के संकेत हैं। कृषि के साथ-साथ दासता, अर्द्ध-दासता, नरबलि की प्रथा, निरंकुश सम्राटों का शासन और व्यापक युद्धों का श्रीगणेश हुआ। इससे केवल गिने चुने शासक वर्ग के सदस्यों के अतिरिक्त किसी का भी जीवनस्तर नहीं उठा; केवल जन-संख्या की ही वृद्धि हुई। समग्र रूप से देखने पर यही कहेंगे कि इससे मनुष्य के कष्टों में ही वृद्धि हुई। यह असंभव नहीं कि औद्योगिक विकास भी इसी मार्ग पर चले।

हमारे भाग्य से पश्चिम में औद्योगिक प्रगति के साथ-साथ जन-तंत्र की भी प्रगति हुई। अगर संसार की जनसंख्या बहुत तेजी से नहीं बढ़ी तो यह संभव हो गया है कि एक व्यक्ति के श्रम से केवल उसके परिवार के लिए ही पर्याप्त भरण-पोषण की सामग्री का उत्पादन नहीं होगा बल्कि उससे कहीं अधिक सामग्री दूसरों के उपयोग के लिए बचेगी। किसी भी सुनियोजित जन-तंत्र में यदि वह किसी संकीर्ण विचारधारा से पथभ्रष्ट नहीं हुआ, तो इस अतिरिक्त उत्पादन का उपयोग जीवनस्तर को उन्नत करने के लिए ही होगा। सीमित क्षेत्र मे ऐसा उपयोग इग्लैण्ड और अमेरिका में हुआ भी है। अगर युद्ध रूपी बाधा न उपस्थित हुई होती तो अधिक प्रभावी ढंग से इसका उपयोग हुआ होता। जीवन स्तर को उन्नत करने के लिए तीन आवश्यक शर्तें हैं—जनतंत्र, श्रमिक संगठन और सन्तति निरोध। निश्चय ही, इन तीनों का सम्पत्तिशाली वर्ग की ओर से तीव्र विरोध हुआ है। किन्तु इन तीनों का यदि औद्योगिक प्रगति के साथ संसार के अन्य भागों में भी विस्तार किया गया, और युद्ध के संकट को सर्वथा निर्मूल कर दिया गया तो सर्वत्र ही निर्धनता का उन्मूलन किया जा सकता है। लेकिन इन तीनों के अभाव में औद्योगिक प्रगति ऐसी शासन व्यवस्था को

जन्म देगी जिसमें मिश्र के सम्राटों ने पिरामिडों का निर्माण कराया था। विशेष रूप से यदि संसार की जनसंख्या इसी रफ्तार से बढ़ती रही तो न तो निर्धनता का उन्मूलन होगा और न श्रम के घंटों में ही कमी सम्भव होगी।

आरोग्य और स्वास्थ्य प्रदान करने वाली औषधियों से रूप मे विज्ञान ने मनुष्य को महान् वरदान दिया है। १८वीं शताब्दी तक अधिकांश मनुष्यों को अपने बच्चों के युवा होने के पूर्व ही काल-कवलित होने की आशंका बनी रहती थी। १९वीं शताब्दी के साथ ही सुधार प्रारम्भ हुआ। टीके का आविष्कार एक बड़ा आविष्कार सिद्ध हुआ। इस दिशा मे जो प्रगति तब से प्रारम्भ हुई अभी तक उसकी गति धीमी नहीं पड़ी है। १९२० में इगलैण्ड और वेल्स में प्रति हजार बच्चों में ८० की मृत्यु हो जाया करती थी जब कि १९४८ में यह घट कर ३४ प्रति हजार ही रह गयी। १९४८ में मृत्यु के अंक १०.८ की निम्नतम सीमा पर पहुँच गये थे। पहिले कभी भी ऐसा नहीं हुआ था। औषधियों द्वारा स्वाथ्य सुधार में कहाँ तक प्रगति हो सकती है इसका अनुमान नहीं लगा सकते। निश्चेतक औषधियों के आविष्कार से बीमार की शारीरिक वेदना में भी बहुत कमी हुई है।

बिना विज्ञान के हिंसात्मक अपराधों में और अवैधकर्मों में आमतौर पर जो कमी हुई है वह शायद न होती। १८वीं शताब्दी के उपन्यासों को पढ़ते हुए हमें लन्दन जैसे प्रमुख नगर का विचित्र अनुभव होता है—प्रकाश-हीन बाजार और वीथियाँ; डाकू और लुटेरों का बाहुल्य; आज के समान आरक्षी विभाग की अविद्यमानता और इन समस्त अभावों की पूर्ति के रूप में एक अत्यन्त घृणित बर्बर और क्रूर दंड व्यवस्था की स्थापना। बाजारों में प्रकाश का प्रबन्ध, टेलिफोन, अपराधियों की उगलियों के निशान लेने की रीतियाँ, अपराध और दण्ड-मनोविज्ञान, ये सब ऐसी वैज्ञानिक प्रगतियाँ हैं जिनके कारण अपराधों में कमी हुई है 'विवेक के युग' का सबसे अधिक आशावादी दार्शनिक भी इनकी कल्पना नहीं कर सकता था।

विज्ञान ने जो अन्य उपकार किये हैं उनमें सबसे पहिला है शिक्षा का विस्तार। यह श्रम की अधिक उत्पादकता के कारण सम्भव हुआ है। सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र में अमेरिका में सबसे अधिक उन्नति हुई है। वहाँ विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा भी निःशुल्क प्राप्त हो जाती है। न्यूयौर्क नगर में अनेक बार टैक्सी पर बैठते हुए मैंने पाया कि टैक्सी का ड्राइवर पी. एच. डी. की डिग्री लिये हुए है। जब वह मेरे साथ दर्शन शास्त्र पर वार्तालाप शुरू करता तो हम दोनों के लिये ही आसन्न-संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती। इगलैण्ड और अमेरिका में उच्चतम-स्तर पर जो सुधार हुए हैं वे समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। इस सम्बन्ध में आप गिबन का लिखा हुआ ऑक्सफोर्ड का वर्णन पढ़ सकते हैं। विज्ञान के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति को सुअवसर की प्राप्ति होने लगी है। अब कोई भी नवयुवक जिसे जन्म से पैतृक सम्पत्ति आदि विशेष सुविधाएँ प्राप्त नहीं हो पाई हैं, उन्नति करते हुए वहाँ तक पहुँच सकता है जहाँ उसकी प्रतिभा का अधिक से अधिक, अच्छे से अच्छा उपयोग हो सकता है। पहिले ऐसे अवसर नाम मात्र को ही थे। इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना बाकी है। इस बात पर विश्वास करने के भी अनेक कारण हैं कि इगलैण्ड और अमेरिका में इस ओर ध्यान दिया जाएगा। बीते हुए युग मे प्रतिभा की कितनी उपेक्षा होती थी। मैं सचमुच ही यह सोचते हुए सिहर उठता हूँ कि न जाने कितने ही प्रतिभाशाली मिल्टन बिना एक शब्द बोले ही अपयश के साथ चिर-निद्रा मे सो गये होंगे! वर्तमान युग के मिल्टन मुखर तो है लेकिन यशस्वी होने की प्रतिभा उनमें नहीं है। साथ ही इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि हमारे युग की भूमि काव्य के प्रस्फुरण के लिये पर्याप्त उर्वर नहीं है।

यह कहना भी अत्युक्ति पूर्ण नहीं है कि आज पहिले की अपेक्षा सर्वत्र सुख का प्रचार दिखाई देता है। यदि युद्ध का भय मिट गया होता तो इसका और भी अधिक प्रसार हुआ होता।

यहाँ हम क्षण भर के लिये यह भी विचार कर लें कि अगर हमें एक सुन्दर सुखी संसार का चिर स्थायी निर्माण करना है तो किस प्रकार की प्रवृत्तियों की अधिकतम वृद्धि होनी चाहिये।

सबसे अधिक महत्व मैं बौद्धिक वृत्ति की आवश्यकता को दूँगा। अनेक व्यक्तियों के मन में महत्व की बातों को जानने की प्रबल इच्छा होनी चाहिए। यह भी आवश्यक है कि अधिकांश व्यक्ति सुखद भ्रान्तियों से न चिपके रहें। आज के संसार में दो बड़ी परस्पर विरोधी विचारधाराएँ दिखाई देती हैं—कैथोलिक धर्म और समाजवाद। इन दोनों में से किसी एक में भी यदि आप को ऐसी दृढ़ आस्था हो कि आप उसके लिये शहीद तक बन सकें तो आप निश्चय ही सुखी जीवन बिता सकते हैं; और अगर मृत्यु जल्दी ही आ गयी तब भी आप को अधिक कष्ट नहीं होगा। आप धर्मान्तरित व्यक्तियों के लिए प्रेरणा स्रोत बन सकते हैं। आप अपनी एक नवीन सेना का निर्माण कर सकते हैं; आप विरोधी विचारों के और विपक्षियों के विरुद्ध घृणा और विद्वेष की ज्वालाएँ भड़का सकते हैं; आम तौर पर आप का एक अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व दिखाई दे सकता है। मुझसे अक्सर ही प्रश्न किया जाता है : तुम जो एक कठोर तर्क युक्त बुद्धिवाद का पक्ष लेते हो, तुम्हारे पास एक निश्चित, सीमित, असन्दिग्ध साम्प्रदायिक दर्शन के स्थान पर मुक्ति के अन्वेषी को देने के लिये कौन सी वस्तु है ? इस प्रश्न के अनेक उत्तर दिये जा सकते हैं। पहिली बात तो यह कि मैं कभी भी नहीं कहता कि मैं उतनी ही तृप्ति प्रदान कर सकता हूँ जितनी कि बुद्धि को निर्वासित करने के बाद प्राप्त हो सकती है। मैं यह भी कभी नहीं कहता कि मैं उतना ही सुख प्रदान कर सकता हूँ जितना मदिरा या मादक द्रव्य के सेवन से, विधवाओं और अनाथों को ठगकर अपार सम्पत्ति अर्जित करने से प्राप्त होता है। मेरे लिये धर्मान्तरित व्यक्ति के वैयक्तिक सुख का भी अधिक महत्व नहीं है। मुझे तो मानव मात्र के सुख की चिन्ता है। अगर आप को वास्तव में ही मनुष्य के सुख की कामना है तो अनेक

प्रकार के अपयशकारी वैयक्तिक सुखों को आप को भुला देना होगा। उनकी सीमाओं के भीतर आप कभी भी प्रवेश नहीं कर सकेंगे। अगर आप का बच्चा बीमार हो और आप कोमल अन्तःकरण-परायण पिता हों तो आप डाक्टर की राय पूछेंगे ही चाहे वह कितनी ही सन्देहजनक और निराशाजनक क्यों न हो। लेकिन यदि आप एक नीम-हकीम के पास केवल इसलिये जाते है कि वह आपको निराश नहीं करता और परिणाम-स्वरूप बच्चे की मृत्यु हो जाती है तो आप का अपराध सचमुच क्षमा के योग्य नहीं है। अपनी सफाई मे आप यह नहीं कह सकेंगे कि आपने उस नीम हकीम की राय इसलिए पसन्द की कि वह निराशा की बात नहीं कहता। अगर लोग सम्पूर्ण मानव जाति से वैसा ही प्रेम करें जैसा अपने बच्चों से करते है तो घर की समस्याओं की ही भाँति वे राजनीति की समस्याओं में भी पथ से विचलित न होंगे।

यह भी अत्यन्त विचारणीय तथ्य है कि सभी मतान्ध शास्त्र अन्ततो-गत्वा हानिकारक ही होते है। यह बात तब और भी स्पष्ट होने लगती है जब वे अपने ही समान दूसरे उग्र मतावलम्बियों से स्पर्धा करने लगते हैं। उस दशा मे घृणा और संघर्ष की प्रचण्ड आँधियाँ सी बहने लगती हैं। जब मैदान में एक ही कट्टरपन्थी दुराग्रही मत का बोलबाला हो तब भी यह बात सही है। ऐसा मत किसी प्रकार की छानबीन की स्वतन्त्रता नहीं देता क्योंकि ऐसा करने से तो उसकी अपनी ही शक्ति का क्षय होने लगेगा। ऐसा मत बौद्धिक प्रगति का सदा ही विरोध करेगा। अगर जैसा कि प्रायः होता है इस धर्म की एक अन्तरंग पुरोहित परिषद् भी हो तब तो यह एक वर्ग विशेष को असीमित शक्ति प्रदान करता है। एक और भी महत्त्वपूर्ण कार्य इसका हो जाता है—वह उस अवस्था में भी जब कि सर्वथा निश्चिन्तता का अभाव हो उसे प्रदान करता है।

प्रत्येक दुराग्रही पन्थ में घृणा के लिये पर्याप्त अवकाश रहता है। बहुत समय हुआ मैं एक ऐसे अतिवादी को जानता था जो कि एक अन्त-र्राष्ट्रीय भाषा का प्रबल समर्थक था, लेकिन वह 'ऐस्पेराण्टो' के स्थान पर

'ईडो' का प्रचार करना चाहता था। जब मैं उसकी जोश से भरी हुई बातें सुनता तो सिहर उठता। तब मुझे लगता कि एस्पेराण्टो भाषा के समर्थक कितने विवेक-हीन, उद्भ्रान्त, चरित्रहीन और धूर्त हैं। इसे सौभाग्य ही समझना चाहिये कि किसी भी सरकार ने उसकी बात नहीं मानी। यदि कहीं वह २० करोड़ की जनसंख्या वाले किसी विशाल देश का अधिनायक होता तो न जाने ऐस्पेराण्टो के समर्थकों की कैसी दशा हुई होती। प्रायः ही उग्रवादी शासनों में घृणा का बोलबाला रहता है। जो लोग सर्वहारा वर्ग से अपना विशेष प्रेम जताते है उनमें अधिकतर ऐसे व्यक्ति है जो केवल धनिक वर्ग से घृणा करते हैं। अनेक लोग जिनकी इस बात मे दृढ़ आस्था है कि अपने पड़ौसी से आत्मवत् प्रेम करना चाहिये उनकी यह भी धारणा होती है कि जो ऐसा नहीं करते उनसे घृणा करनी चाहिये। चूँकि इन्ही का तो बहुत बड़ा बहुमत है इसलिए इनके अनुयायियों में प्रेम पूर्ण सहृदय व्यवहार की कमी ही दिखाई देती है।

इन विशिष्ट बुराइयों के अतिरिक्त, शास्त्रीय आज्ञा को आधार मान, बिना किसी तर्क-वितर्क के किसी धारणा को चुपचाप स्वीकृत कर लेने की वृत्ति सर्वथा अवैज्ञानिक है। अगर यह व्यापक रूप मे पायी जाय तो विज्ञान की प्रगति के साथ किसी प्रकार भी इसका मेल नहीं बैठता। बाइबिल में ही नहीं, मार्क्स और ऐंगल्स के ग्रन्थों में भी यत्र तत्र ऐसे कथन मिलते हैं जिन्हें सरलता से असत्य प्रमाणित किया जा सकता है। बाइबिल मे कहा गया है कि 'खरगोश जुगाली करता है,' और ऐंगल्स ने कहा था कि 'आस्ट्रिया १८६६ के युद्ध में विजयी होगा।' इन कथनों का महत्त्व केवल उनके लिए है जो शास्त्रोक्त कथन में अन्ध-श्रद्धा रखते है। लेकिन जब किसी शास्त्र ग्रन्थ को तो सुरक्षित रखा जाता है और उसके आधारभूत सिद्धान्तों को अस्वीकार कर दिया जाता है, तब उसकी व्याख्या का एकाधिकार पुरोहित वर्ग को मिल जाता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का अर्थ प्रति दशाब्दी के बाद बदलता रहता है और जो पुराने ही अर्थ को

स्वीकार किये रहते हैं उन्हें या तो मृत्यु या जीवन पर्यन्त बन्दीगृह में दिन काटने पड़ते हैं।

विज्ञान की विजय मुख्य रूप से इस कारण हुई कि इसने शास्त्रीय मत के स्थान पर परीक्षण और अनुमान को ग्रहण किया है। बौद्धिक क्षेत्र में शास्त्रोक्त मत को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न पीछे की ओर कदम उठाने के समान है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण कभी भी यह दावा नहीं करता कि विज्ञान के कथन असंदिग्ध हैं। वह तो केवल यह कहता है कि वर्तमान उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर इसकी सबसे अधिक संभावना मालूम पड़ती है।

सबसे बड़ा लाभ तो विज्ञान से उनको प्राप्त हुआ है जो उसके स्वरूप को समझते हैं। इससे वे वैयक्तिक विश्वास की भ्रान्ति के बिना जीवित रहने में समर्थ होते हैं। यही कारण है जो विज्ञान अत्याचार और अन्याय का समर्थन नहीं करता।

अतिवादी कट्टर मतों के प्रति आकर्षण हमारे युग का एक महान् अभिशाप है। ऐसे युग इतिहास में पहिले भी आये हैं: भूतपूर्व रोमन साम्राज्य और सोलहवीं शताब्दी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। जब रोम का प्रभाव क्षीण होने लगा और तीसरी शताब्दी में बर्बर आक्रान्ताओं के कारण सर्वत्र भय और विपन्नता फैल गयी, तब लोग अन्यत्र सुरक्षा की खोज करने लगे। प्लौटीनस को यह सुरक्षा प्लैटो के अविनाशी सनातन संसार की कल्पना में मिली, मिश्र के अनुयायियों को यह आदित्य मण्डल में प्राप्त हुई, और ईसाइयों को स्वर्ग की संकल्पना मे। अन्त में विजय ईसाइयों की हुई क्योंकि उनकी हठवादिता सबसे बढी-चढी थी। विजयोपरान्त वे आपस में ही एक दूसरे पर पथभ्रष्ट होने का आरोप लगा अत्याचार करने लगे। उनको इतनी फुर्सत ही न रही कि वे बर्बर आक्रान्ताओं की ओर ध्यान दे सकें। उनकी दृष्टि में आक्रमणकारी बर्बर एरियन के अनुयायी थे। एरियन शब्द का प्राचीन अर्थ लगभग वही था जो हमारे समय में 'ट्रोट्स्की के

अनुयायी' का होता है। उस युग का धार्मिक उत्साह भय और निराशा की उपज था; हमारे युग की मतान्धता—चाहे वह ईसाई धर्म हो चाहे समाजवाद—उसी निराशा और भय की उपज है। यह संकट की आशंका से होने वाली तर्कहीन प्रतिक्रिया है और जिस वस्तु से यह भयभीत है उसी को यह और निकट ले आती है। उद्जन बम की विभीषिका मतान्धता को जन्म देती है और यही सबसे अधिक उद्जन बम के इस्तेमाल के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। अगर इन मतान्धों की बात ठीक हो तो स्वर्ग को ले जाने वाली मुक्ति तो शायद इस मार्ग से मिल सकेगी लेकिन पृथ्वी की मुक्ति की इससे जरा भी आशा नहीं की जा सकती।

बौद्धिक ईमानदारी और प्रेम के सम्बन्ध पर भी मैं यहाँ संक्षेप मे कुछ कहूँगा। मार्मिक वेदना के दृश्य को देखकर दर्शकों की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियायें हो सकती हैं। अगर तुम्हारी नृशंस संभोगी वृत्ति होगी तो तुम्हें इस दृश्य में आनन्द मिलेगा; अगर तुम विरक्त हुए तो इसकी उपेक्षा करोगे; अगर तुम भावुक हुए तो तुम यह कर कर सन्तोष कर लोगे कि वास्तव में यह उतना बुरा नहीं है जितना दिखाई देता है; लेकिन यदि तुम्हारा अन्तःकरण करुणा से ओत प्रोत हो तो तुम इसकी वास्तविकता को पहिचानते हुए और अनुभव करते हुए इसे निर्मूल करने का प्रयत्न करोगे। भावुक व्यक्ति तुम पर आरोप लगाएँगे कि तुम कठोर बुद्धिवादी हो क्योंकि यदि तुम दूसरों की पीड़ा को जरा भी समझ पाते तो उनके प्रति इतनी निर्मम वैज्ञानिक दृष्टि न अपनाते। भावुक तो यहाँ तक दावा कर सकता है कि उसका हृदय तुमसे कहीं अधिक कोमल है और इसीलिए वह यातना को स्वयं न सहते हुए भी उसका निराकरण नहीं चाहता।

गिलबर्ट और सुलीवन की एक कृति में एक कोमल हृदय स्त्री है जो इस प्रकार गाती है—

एक दिन मैंने सुना
एक भद्रपुरुष को कहते हुए

कि अपराधी जो होते हैं विभक्त
द्विधा आरेसे चीरकर,
वेदना नहीं होती उन्हें
क्योंकि फौलाद की तेज धार
क्षण में ही कर देती विभक्त,
वेदना की अनुभूति का अवकाश कहाँ,
यदि अतिरञ्जित न हो यह कथन
तो सचमुच ही—भाग्यवान हो तुम ।

इसी प्रकार जिन लोगों ने म्यूनिक की सन्धि के द्वारा आत्म-समर्पण किया वे इस प्रकार अपने कार्य का औचित्य सिद्ध करेंगे—(अ) कि नाजी लोग इसके बाद अपने विनाश का ताण्डव स्वयं ही बन्द कर देंगे, । (ब) कि यहूदी लोग अपना कत्लेआम होते देख सुख पाते है । इसी मार्ग के दूसरे पथिक (कम्यूनिस्ट) कहते है (अ) कि रूस मे बेगार की प्रथा कहीं भी नहीं है (ब) कि रूस के नागरिक सबसे अधिक प्रसन्न तब होते हैं जब कि आर्कटिक की भयानक सर्दी में जी तोड़ परिश्रम कर अपना दम तोड़ते हैं । लेकिन ये निर्मम बुद्धिवादी नहीं है !

हमारे युग की सबसे अधिक चिन्ता-जनक एक और भी प्रवृत्ति है और वह है मृत्यु की इच्छा । सभी जानते है कि कितनी ही आदिम जातियाँ, जब, यकायक श्वेत जातियों के सम्पर्क में आती हैं तो अपने आप निश्चेष्ट। सी हो जाती हैं और कुछ समय बाद जीवित रहने की इच्छा के प्रभाव में नष्ट हो जाती हैं । पश्चिमी यूरोप में संकट की जो नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी हैं उनका भी करीब करीब ऐसा ही प्रभाव हो रहा है । वास्तविकता का सामना करते हुए तक़लीफ होती है और बाहर निकलने का मार्ग भी दिखाई नहीं देता । भविष्य के लिए जिस शक्ति का सदुपयोग हो सकता था उसका स्थान एक अजीब सी बेचैनी ले लेती है। सर्वत्र यह कहने की प्रवृत्ति दिखाई देती है कि "अगर उद्जन बम से सब कुछ क्षण भर में

ही समाप्त हो गया तो तमाम झंझटों से तो छुटकारा मिलेगा।" यह एक थके माँदे दुर्बल व्यक्ति की प्रतिक्रिया है। यह उसी प्रकार की है जैसी बर्बरों के विरुद्ध रोमनों में दिखाई दी थी। इस स्थिति का मुक़ाबला साहस, आशा और एक युक्ति-युक्त आशा-वादिता से ही किया जा सकता है। आशा के लिये कौन सा आधार है इस पर हम सर्वप्रथम विचार करेंगे।

मुझे इसमें किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं है कि, अगर कुछ समय के लिये हम युद्ध के संकट को भूल जायँ तो यह कह सकते हैं कि सामान्यतया सुखी जीवन का जो स्तर आज इगलैण्ड और अमेरिका में पाया जाता है वैसा किसी भी समय किसी भी समाज को प्राप्त नहीं था। इसके अतिरिक्त जब युद्ध के बादलों का गर्जन नहीं सुनाई देता जीवन का स्तर और भी उन्नत होता जाता है। यह हमारी एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है जिसकी हम रक्षा कर सकते हैं।

अनेक ऐसी वस्तुएँ हैं जिनकी हमारे युग को आवश्यकता है। कुछ ऐसी भी है जिनसे हमें दूर ही रहना होगा। इस युग को आवश्यकता है करुणा की और ऐसी भावना की कि मनुष्य का कल्याण हो; इसे आवश्यकता है ज्ञान की और सुखद भ्रान्तियों से अपने को बचाने की। इस युग को सर्वोपरि आवश्यकता है साहस की, आशा की और सर्जनात्मक प्रवृत्तियों की। जिन प्रवृत्तियों ने इसे विनाश के कगार पर खड़ा कर दिया है वे हैं—क्रूरता, ईर्ष्या, लोभ, प्रतिद्वन्द्विता, अर्थहीन वैयक्तिक निश्चिन्तता की तलाश और, फ्राइड के अनुयायियों के शब्दों में मृत्यु की इच्छा।

इतनी बड़ी समस्या का हल बहुत ही सरल है और वह हल है एक पुराने विचार में। उसका जिक्र करते हुए भी मैं लज्जा का अनुभव कर रहा हूँ क्योंकि मुझे भय है कि मेरे शब्दों को सुन कर अनेक बुद्धिमान् व्यक्तियों के चेहरों में व्यंग की झलक दिखाई देगी। मेरा अभिप्राय जिस वस्तु से है उससे आप भी परिचित हैं। ईसाई धर्म में जिस प्रेम का वर्णन है और जिसका दूसरा नाम करुणा है, वही इस समस्या का एकमात्र हल

है। अगर इसकी अनुभूति हुई हो तो तुम्हारे जीवित रहने का एक प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। यह करुणा तुम्हारा मार्ग दर्शन करेगी, तुम्हें साहसिक बनने की प्रेरणा देगी। यदि तुम्हें इसकी अनुभूति होती है तो तुम्हें वह सब कुछ प्राप्त हो जाता है जो अन्य किसी के लिए धर्म के नाम पर आवश्यक होता है। तुम्हें इसके द्वारा परम सन्तोष का अनुभव भले ही न हो, लेकिन तुम्हें उन लोगों की तरह गहन निराशा का भी अनुभव नहीं होगा जिनके जीवन निरुद्देश्य और निष्प्रोजन हो गये हैं क्योंकि तुम मानव के कष्टों को कुछ न कुछ तो हलका कर ही सकते हो।

मैं जिस बात पर जोर देना चाहता हूँ वह यह कि आलस्य-जन्य निराशा जो आज चारों ओर फैली हुई है सर्वथा असंगत है और त्याज्य है। मानव जाति आज उस पर्वतारोही की स्थिति में है जो एक दुर्गम और खतरनाक चट्टान की चोटी पर चढ़ने का प्रयत्न कर रहा है। चोटी पर समतल भूमि है और नयनाभिराम पर्वतीय उपवन है। एक-एक कदम चढ़ने पर पर्वतारोही के लिए गिरने का संकट अधिकाधिक भयानक हो जाता है; प्रत्येक क़दम के बाद उसकी थकावट बढ़ जाती है और चढ़ाई दुस्साध्य होती जाती है। अन्त में अब केवल एक क़दम और चढ़ना रह गया है, लेकिन आरोही को इसका पता नहीं क्योंकि उसके ठीक शिर के ऊपर आगे को निकली हुई चट्टान है जिससे वह उस ओर की किसी भी वस्तु को देख नहीं पाता। वह इतना थक गया है कि उसे अब केवल आराम चाहिए। यदि इस समय वह अपना प्रयत्न छोड़ दे तो उसे विश्रान्ति तो मिलेगी लेकिन वह मृत्यु की विश्रान्ति होगी। अदम्य आशा उसे उत्साहित करती है—'एक प्रयत्न और कर देखो। शायद तुम्हें इसी अन्तिम प्रयत्न की आवश्यकता होगी।' विडम्बना कहती है—'मूर्ख, तुम कब से इस छलनापूर्ण आशा के सहारे चलते आ रहे हो? देखो तुम्हें इसने कैसी विषम स्थिति में लाकर फँसा दिया है!' आशा फिर कहती है—'जब तक जीवन है तब तक आशा मत छोड़ो।' निराशा कहती है—'जब तक जीवन है तब तक पीड़ा साथ नहीं छोड़ती।' क्या थका मांदा पर्वतारोही एक और प्रयत्न

करेगा ? क्या यह अपने को गहरे गर्त में गिरने देगा ? कुछ ही वर्षों में हम में से जो लोग जीवित रहेंगे इसका उत्तर पा जायेंगे।

अलंकार की भाषा को हम छोड़ दें तो सरल भाषा में आज की स्थिति यह है : विज्ञान मनुष्य जाति की समृद्धि की अनेक प्रकार की सम्भावनाएँ प्रदान करता है। पहिले इसका अभाव था। यह समृद्धि तब प्राप्त होगी जब कुछ आवश्यक शर्तों का पालन होगा : युद्धों का अन्त, प्रभुसत्ता का समान वितरण और जनसंख्या की वृद्धि पर अंकुश। इनकी सम्भावना भी आज बहुत बढ़ गयी है। पश्चिम के उद्योग प्रधान देशों में जनसंख्या की वृद्धि लगभग रुक ही गयी है; ज्यों-ज्यों दूसरे देशों का औद्योगिक विकास होगा उन्हीं कारणों से उसी प्रकार के परिणाम वहाँ भी प्रकट होंगे। शर्त केवल इतनी है कि तानाशाह और धर्मप्रचारक हस्तक्षेप न कर पावें। प्रभुसत्ता के समान वितरण का लक्ष्य—आर्थिक तथा राजनीतिक—ब्रिटेन में करीब-करीब प्राप्त कर लिया गया है, और दूसरे जनतान्त्रिक देश तेजी से इस ओर बढ़ रहे है। अन्तिम शर्त है युद्धों की रोक-थाम। यह कहना असंगत सा लगेगा कि आज हम इस लक्ष्य की प्राप्ति के बहुत निकट आ गये हैं लेकिन मुझे तो इसमें विशेष असंगति नही दिखाई देती। मैं क्यों ऐसा समझता हूँ इसका भी स्पष्टीकरण करूँगा।

प्राचीन काल में सर्वोच्च प्रभुता सम्पन्न अनेक राज्य थे। इनमें किसी भी समय कोई भी दो राज्य जब चाहे आपस मे लड़-भिड़ सकते थे। तब राष्ट्र संघ जैसे संगठनों का असफल होना निश्चित ही था, क्योंकि तब जब भी विवाद उठ खड़ा होता था, उसमें उलझे हुए राज्य स्वाभिमान के कारण किसी बाह्य निर्णय को मानने को तैयार न होते थे, और तटस्थ राज्य इन निर्णयों को मनवाने के प्रति बिल्कुल उदासीन रहते थे। आज केवल दो ही सर्वोच्च प्रभुता सम्पन्न राज्य रह गये हैं—रूस (अपने अनुयायियों सहित) और संयुक्त राज्य अमेरिका (अपने उपग्रहों के सहित)। इन दोनों में, कोई भी चाहे विजय द्वारा चाहे सैन्य बल की श्रेष्ठता द्वारा यदि अधिक

शक्तिशाली हो गया तो वह—एक महत्तर दुर्भेद्य शक्ति बन सम्पूर्ण भूमण्डल पर अपनी प्रभुता स्थापित करेगा और तब भविष्य में युद्धों की सम्भावना समाप्त हो जायेगी। प्रारम्भ मे यह अधिकरण किसी-किसी क्षेत्र में शक्ति पर निर्भर रहेगा। यदि पश्चिमी राष्ट्रों के हाथ में इस प्रकार की सत्ता आ गई तो शक्ति का स्थान कुछ समय बीतने पर जनमत ले लेगा। इस लक्ष्य की प्राप्ति होने पर संसार की सबसे जटिल समस्या का हल निकल आयेगा और फिर विज्ञान पूर्ण रूप से मानव का उपकारी बन्धु बनेगा। मैं नहीं सोचता कि जब इस प्रकार के सार्वभौम शासन की एक बार स्थापना हो जायेगी तो वह अस्थायी सिद्ध होगा। आज की व्यापक हिंसा के मुख्य कारण हैं—शक्ति का मोह, प्रतिद्वन्द्विता, घृणा और भय। शक्ति के मोह की सन्तुष्टि के लिये तब कहीं भी मार्ग नहीं मिलेगा क्योंकि समस्त सैन्य शक्ति अन्ताराष्ट्रिय सेना का अंग बन जाएगी। विभिन्न सेनाओं का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं होगा। प्रतिद्वन्द्विता को कानून द्वारा प्रभावशाली ढंग से नियन्त्रित कर दिया जायेगा। युद्ध की आशंका न रहने पर जो भय आज सर्वत्र फैला हुआ है अपने आप मिटने लगेगा। केवल बचेंगी घृणा और दुर्भावना। मनुष्य के स्वभाव में इनकी जड़ें गहराई तक चली गई है। आज हम अपने पड़ोसी के विरुद्ध जो भी निन्दनीय अफवाहें फैलती हैं उन पर, सन्देह की गुञ्जाइश होते हुए भी, तत्क्षण विश्वास कर लेते है। प्रथम महायुद्ध के बाद कितने ही लोग जर्मनी से अत्यधिक घृणा करने लग गये थे। इस बात पर वे विश्वास ही नहीं कर पाते थे कि जर्मनी के प्रति इनके अत्यन्त कठोर व्यवहार के कारण ही उन्हें क्षति पहुँची थी। कांग्रेस में ही हम देखते हैं कि सब इस बात के लिये अनिच्छा प्रकट करते हैं कि आत्मरक्षा के लिए अमेरिका को पश्चिमी यूरोप की सहायता करनी ही चाहिए। इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में हम देखते हैं कि अमेरिका अपना माल तो दूसरे देशों में बेचना चाहता है लेकिन उनसे खरीदना कुछ भी नहीं चाहता। अन्त में उसे विक्रय करने के बदले दान करने के लिए विवश होना पड़ता है। अनेकों अमरीकी इस बात से नाराज होते हैं कि जिन देशों को वे मुफ्त में इतना

अधिक दे रहे हैं उनसे बदले में कुछ भी तो नहीं मिल रहा है। व्यापक रूप में यह क्षुद्रता मानव स्वभाव में दिखाई देती है और यह हमारा बड़ा दुर्भाग्य है। यदि एक जागतिक शासन की स्थापना करनी है तो इस क्षुद्रता को छोड़ना ही होगा।

मुझे पूरा विश्वास है कि इस क्षुद्रता को अविलम्ब ही मिटाया जा सकता है। यदि पृथ्वी पर शान्ति की सुदृढ़ स्थापना हो जाए तो तेजी से भौतिक समृद्धि में वृद्धि होगी। समृद्धि से लोगों में दयालुता, करुणा और सहानुभूति की भावना बढ़ती है। विक्टोरिया के युग में कितनी तेजी से ब्रिटेन में क्रूरता का क्षय हुआ और परोपकार वृत्ति बढ़ी। इसका प्रधान कारण था उस काल की समृद्धि। मेरा पूर्ण विश्वास है कि युद्धों के समाप्त हो जाने के फल स्वरूप संसार के प्रत्येक भाग में समृद्धि के दर्शन होने लगेंगे। आशाएँ साकार होने लगेंगी। हिंसात्मक संकीर्ण राष्ट्रीय भावनाओं का प्रचार अवैध घोषित कर दिया जाएगा और स्कूलों में बच्चों को शिक्षा दी जाएगी कि विदेशियों से घृणा न करें। प्राचीन काल की बुराइयों से उन्हे परिचित कराया जायेगा और नवीन व्यवस्था के लाभ भी उन्हें बताये जाएँगे। मुझे पूर्ण विश्वास है कि कुछ रुग्ण व्यक्तियों को छोड़ कोई भी आणविक शक्ति से होने वाले विनाश की ओर संसार को नहीं ले जाना चाहेगा।

तब मार्ग में कौनसी बाधा है? बाधा न तो भौतिक है और न प्राविधिक। वास्तविक बाधा है मनुष्यों के मन में घर की हुई विकृतियों की—जैसे सन्देह, भय, शक्ति का मोह, घृणा और असहिष्णुता आदि। मैं इस बात को अस्वीकार न करूँगा कि ये विकार पश्चिम की अपेक्षा पूर्व में अधिक उग्र रूप में व्याप्त हैं। लेकिन पश्चिमी देशों मे भी उनका तिरोभाव नहीं हुआ है। आज इसी क्षण मनुष्य इच्छा करते ही एक सुन्दर संसार की ओर अग्रसर हो सकता है और उसके लिए अभी इतना ही काफी है कि पश्चिम और पूर्व का पारस्परिक अविश्वास दूर हो। मैं नहीं जानता कि इस शर्त को पूरा करने के लिए क्या किया जा सकता है। मेरे देखने में

अनेक सुझाव आये हैं लेकिन मुझे इनमें विवेक का अभाव ही दिखलाई दिया है। अन्तरिम काल में हमारा यही प्रयत्न होना चाहिये कि किसी भी प्रकार विस्फोट की स्थिति न आने पावे और हम यह आशा भी करते रहें कि समय के साथ-साथ हममें बुद्धिमत्ता भी आयेगी। आने वाला भविष्य या तो अतीत से बहुत ही सुन्दर होगा या अत्यन्त भयावह। यह कैसा होगा ? आगामी कुछ ही वर्षों में इसका निर्णय होने वाला है।

●

अध्याय सात

क्या वैज्ञानिक युग का समाज स्थायी हो सकता है ?

इस अन्तिम अध्याय में मैं एक विशुद्ध वैज्ञानिक प्रश्न पर विचार करना चाहता हूँ : क्या एक ऐसा समाज जिसमें विचार और तकनीक दोनों ही विज्ञान से युक्त हों दीर्घकाल तक उसी प्रकार टिक सकता है जिस प्रकार, उदाहरण के लिए, प्राचीन मिश्र का समाज टिका था ? क्या इसके अन्दर वे दुर्दम्य शक्तियाँ मौजूद हैं जो निश्चय ही इस समाज को क्षय की ओर या विस्फोट की ओर ले जायेंगी ?

जिस प्रश्न को मैंने यहाँ लिया है उसकी मैं व्याख्या करूँगा। 'वैज्ञानिक समाज' से मेरा अभिप्राय उस समाज से है जिसमें विज्ञान की जानकारी और उसपर आधारित तकनीक उसके दैनिक जीवन, उसके अर्थशास्त्र और उसके राजनीतिक संगठन को प्रभावित करते हैं। प्रारम्भ के दिनों में विज्ञान के सामाजिक प्रभावों का अस्तित्व 'नहीं' के बराबर था। जो कुछ प्रभाव थे वे उन कुछ पढ़े लिखे व्यक्तियों तक ही सीमित थे जिन्हें

विज्ञान में रुचि थी। लेकिन आज के युग मे तो यह सामान्य जीवन को तेज रफ़्तार से वदलता जा रहा है।

मैं यहाँ 'स्थिर' शब्द का इस्तेमाल उसी अर्थ मे कर रहा हूँ जिस अर्थ में वह भौतिक विज्ञान में प्रयुक्त होता है। एक लट्टू तब तक 'स्थिर' रहता है जब तक वह एक निश्चित गति से घूमता जाता है। इसके बाद वह 'अस्थिर' हो एक ओर को लुढ़क जाता है। एक परमाणु को ही लें। वह जब तक रेडियो-धर्मी नहीं हो जाता तब तक उसे 'स्थिर' कहेंगे। जब वह एक अणु विज्ञान के आचार्य के हाथ मे पहुँचता है उसकी स्थिति मे परिवर्तन होने लगता है। एक तारक पिण्ड करोड़ों वर्ष तक स्थिर रहता है और फिर एक दिन उसमें सहसा विस्फोट हो जाता है। इसी अर्थ मे मैने यह प्रश्न किया है। क्या वैज्ञानिक समाज जिसके निर्माण की हम इच्छा कर रहे हैं स्थिर रह सकेगा ?

मैं यहाँ इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि मैं जो प्रश्न पूछ रहा हूँ वह तथ्याश्रयी है। मैं 'स्थिरता' की अच्छाई बुराई पर विचार नहीं कर रहा हूँ। अच्छे बुरे का सम्बन्ध मूल्यों से है, और इसलिए वैज्ञानिक वाद-विवाद की सीमा के परे है। मैं तो यह प्रश्न कर रहा हूँ कि क्या इसकी संभावना है कि समाज निरन्तर वैज्ञानिकता की ओर प्रयत्नशील रहेगा ? अगर यह प्रयत्न जारी रहा तो समाज अधिकाधिक विज्ञानाश्रित बनता जायेगा क्योंकि नवीन ज्ञान संचित होता ही रहेगा। अगर प्रयत्न जारी नहीं रहा तो या तो शनैः शनैः यह क्षय की ओर प्रवृत्त होगा या इसमें आमूल परिवर्तन होंगे। जिस प्रकार सूर्य विकिरण द्वारा धीरे-धीरे शीतल होता जाता है, या प्रचण्ड उथल-पुथल के बाद महाकाश में जिस प्रकार नये तारक-पुंजों का जन्म होता है, ठीक वही बात पृथ्वी पर भी होगी।

कल्पना के पंख लगाकर भी हम समस्या पर विचार कर सकते हैं क्योंकि जिस कालावधि का यहां प्रसंग है उसका अनन्त विस्तार है। ज्योतिर्विद हमसे कहते हैं कि यह पृथ्वी अभी कई करोड़ वर्ष तक मनुष्य के

विकास के योग्य बनी रहेगी। मनुष्य की आयु अभी दस लाख वर्ष की ही हुई है। यह अच्छा ही है कि मनुष्य के भविष्य की जीवनावधि का उसके अतीत की तुलना मे बहुत बड़ा भाग अभी शेष है।

सामान्य रीति से हम कह सकते हैं कि हम उपकरण सम्बन्धी कुशलता और परिणाम सम्बन्धी मूर्खता की दौड़ के बीच में है। यदि परिणाम बिना विचारे हमने मूर्खता की तो प्रत्येक प्रकार की प्रगति का अमंगलकारी अन्त होगा। आजतक मानव जाति जो जीवित रह सकी है वह अपने अज्ञान और अकुशलता के कारण। लेकिन पर्याप्त ज्ञान और कुशलता के साथ पर्याप्त मूर्खता के मिश्रण के बाद जीवित रहने की आशा दुराशा ही कही जा सकती है। ज्ञान ही शक्ति है लेकिन यह विनाशकारी है और कल्याणकारी भी। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ विवेक की भी वृद्धि न हुई तो इसका अर्थ होगा सन्ताप और कष्टों में वृद्धि।

अस्थिरता के कारण

अस्थिरता के सम्भव कारणों को हम तीन वर्गों में रख सकते हैं: भौतिक, जैविकी और मनोवैज्ञानिक। पहिले मैं भौतिक कारणों की चर्चा करूँगा।

भौतिक कारण

उद्योग और कृषि दोनों में ही आज संसार के प्राकृतिक साधनों के भाण्डार का तेजी से क्षय होता जा रहा है। कृषि में तो जबसे मनुष्य ने भूमि पर हल चलाना सीखा तबसे अपव्यय की ही रीतियाँ अपनायी गई हैं। केवल नील की घाटी में विशेष परिस्थितियों के कारण अपव्यय नहीं हुआ। जब तक जन संख्या कम थी, खेतों की पैदावार, घटते ही लोग उन्हें छोड़कर दूसरे स्थानों को चल देते थे। फिर धीरे-धीरे मनुष्य ने पता लगा लिया कि शवों का उर्वरक के रूप में उपयोग किया जा सकता है। तब नर बलि की प्रथा का सर्वत्र प्रचार हुआ। इसके दो लाभ थे। एक तो इससे

पैदावार बढ़ी, दूसरे खाने वालों की संख्या घटी। फिर भी समाज की दृष्टि मे यह उपाय घृणित और अवाञ्छनीय था और इसका स्थान युद्ध ने ले लिया। किन्तु उस समय के युद्धों मे इतनी जीवन-हानि नहीं होती थी कि उससे जीवित बचे हुए लोगों के कष्ट मिट जाते। इसीलिए आज तक भूमि की उर्वरता का निरन्तर ह्रास होता आया है। जब संयुक्त राज्य का एक विस्तृत उपजाऊ क्षेत्र रेतीला मैदान बन गया तो समस्या की ओर सबका ध्यान आकृष्ट हुआ। अब इतना ज्ञान तो हो गया है कि अगर संसार में अन्न का उत्पादन इसी खतरनाक ढंग से होता रहा तो क्या क़दम उठाने होंगे। लेकिन आवश्यक क़दम उठाये ही जायेंगे यह एक सन्देहात्मक प्रश्न है। भोजन की मांग इतनी उत्कट और तात्कालिक लाभ इतना अधिक है कि केवल एक शक्तिशाली और विवेकयुक्त शासन ही आवश्यक क़दम उठा सकता है। लेकिन संसार के अधिकांश भागों मे शासन न तो समर्थ ही है और न विवेक से युक्त। अभी मैं जन-संख्या को समस्या को यहीं छोड़ता हूँ। इस पर शीघ्र ही फिर विचार करूंगा।

कृषि के समान ही कच्चे माल की समस्या भी कालान्तर मे गम्भीर रूप धारण करेगी। फैनीसियन काल से लेकर अभी कुछ ही वर्ष पूर्व तक कार्नवाल में टीन का उत्पादन होता था। अब कार्नवाल का टीन समाप्त हो गया है। लोग यह कह कर सन्तोष कर लेते हैं कि एक स्थान पर यदि यह खनिज समाप्त भी हो गया तो मलय जैसे अन्य स्थानों में तो अभी इसके भाण्डार सुरक्षित हैं। वे भूल जाते हैं कि एक दिन इस्तेमाल करते-करते वे भी समाप्त हो जाएँगे। जहाँ भी टीन सुलभता से मिलेगा सर्वत्र यही दशा होगी। इसी प्रकार तेल के बिना, वर्तमान तकनीक को ध्यान में रखते हुए कह सकते हैं, कि किसी भी राष्ट्र की औद्योगिक उन्नति सम्भव नहीं है। और न युद्ध काल में वह आत्म-रक्षा करने में ही समर्थ होगा। तेल का उत्पादन शीघ्रता से घटता जा रहा है और जो तेल बचा है उस पर अधिकार करने के लिए भविष्य में जो युद्ध होंगे उनमें यह बचा-खुचा तेल भी समाप्त हो

जाएगा। इसके विरोध मे आप शायद यह कहेगे कि यदि शक्ति के साधन के रूप में तेल समाप्त भी हो गया तो परमाणु शक्ति तो अभी उपयोग के लिए बची है। लेकिन जब सभी प्राप्य यूरेनियम और थोरियम के उपयोग से मनुष्यों का, मछलियों का और दूसरे प्राणियों का संहार हो जाएगा तब कैसी स्थिति होगी। आज स्थिति यह है कि उद्योग और कृषि भी, जहाँ तक कि कृत्रिम उर्वरकों का प्रश्न है, शक्ति के प्राकृतिक स्रोतों पर निर्भर करते हैं। इनके नष्ट होने पर शीघ्र ही अभाव की पूर्ति नहीं हो सकती। निस्सन्देह आवश्यकतानुसार विज्ञान नये साधन खोजेगा लेकिन यह निश्चित है कि भूमि और श्रम दोनों की ही उत्पादकता कम हो जाएगी। नये साधन भी तो अस्थायी ही सिद्ध होंगे। संसार इस प्राकृतिक पूँजी पर आज पूर्णतया निर्भर है और जब तक औद्योगिकी का यह स्वरूप रहेगा तब तक उसे इसी प्रकार निर्भर रहना पड़ेगा। वैज्ञानिक समाज की अस्थिरता का यह एक ऐसा कारण है जिसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते।

जैविक कारण

अब मैं जैविकी सम्बन्धी प्रश्न लेता हूँ। अगर हम संख्या को ध्यान में रखकर सफलता का अनुमान लगाएँगे तो हमे मानना पड़ेगा कि मनुष्य दूसरे प्राणियों से अधिक सफल हुआ है। प्रारम्भिक दिनों में इस पृथ्वी पर मनुष्यों की संख्या अत्यल्प रही होगी। कहीं कहीं ही यह विचित्र प्राणी दिखाई देता होगा। लेकिन उसकी दो विशेषताएँ ऐसी हैं जिनसे दूसरे प्राणी वञ्चित हो गए हैं। यन्त्रों का इस्तेमाल करने में उसके हाथों की कुशलता और भाषा के द्वारा अपने अनुभव और आविष्कार दूसरों तक पहुँचाने की उसकी क्षमता संचित होकर बढ़ती रही हैं। प्रारम्भ मे यन्त्रों की संख्या भी अधिक नहीं थी और सम्प्रेषण के लिए ज्ञान की राशि भी सीमित थी। भाषा का विकास कब हुआ यह कोई नहीं जानता। जो भी हो निम्नलिखित त्रिविध प्रगति के कारण पृथ्वी की सतह पर मनुष्यों की संख्या तेज़ी से बढ़ी। पहिली प्रगति के द्वारा मनुष्य ने जंगल के जानवरों

को अपने उपयोग के लिए पालतू बनाया। दूसरी प्रगति तब हुई जब कृषि जीवन का एक आवश्यक अंग बना। तीसरी प्रगति थी औद्योगिक क्रान्ति की। इनके कारण दूसरे वन्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य की संख्या में अधिक वृद्धि हुई है। भेड़ आदि दूसरे जानवरों का जो बड़ी संख्या दिखाई देती है उसका कारण भी मनुष्य ही है। मनुष्य ने अपने उपयोग के लिए उन्हें सुरक्षा प्रदान की। मनुष्य के साथ जिन जानवरों ने प्रतिद्वन्द्विता की उनकी संख्या घट गई। बड़े-बड़े जानवर भी जिन्हें मनुष्य ने नहीं अपनाया नष्ट या मृत-प्राय हो गये।

कुछ डरते-डरते मैं अपनी दूसरी प्रस्तावना पर आता हूँ कि औषधियों के द्वारा संसार की जनसंख्या में अधिक वृद्धि नहीं हो सकती। यह अवश्य है कि यदि १४ वीं शताब्दी में औषधि विज्ञान की सहायता से महामारी पर विजय पाई गई होती तो यूरोप की जन संख्या बहुत अधिक होती। लेकिन यह कमी स्वाभाविक रूप से पूरी होकर उस सीमा तक पहुँच गई जिसका माल्थस ने अनुमान लगाया था। एक ओर चीन देश में अमरीकी और पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति से और मिसनरी डाक्टरों की सेवा से बच्चों की मृत्यु संख्या का औसत काफी घट गया है तो दूसरी ओर अकाल और भुखमरी से पीड़ित बच्चों की मृत्यु संख्या बढ़ गयी है। मनुष्य जाति को इससे होने वाला लाभ संदिग्ध है। केवल उन स्थानों को छोड़ जहाँ जन्म संख्या का औसत बहुत ही कम है, जन संख्या, अनत्तोगत्वा, खाद्य सामग्री की सुलभता पर निर्भर करती है, किसी और वस्तु पर नहीं। पश्चिमी देशों में, फिलहाल, जो जन्म संख्या के औसत में कमी हुई है उसने माल्थस के सिद्धान्त को झुठला दिया है। लेकिन अभी कुछ ही समय पहिले तक यह सिद्धान्त संसार भर में लागू होता था और आज भी पूर्व के घने बसे हुए देशों में इस सिद्धान्त की सचाई में अन्तर नहीं पड़ा है।

विज्ञान ने जन संख्या को बढ़ाने के लिए क्या किया है? पहिली बात तो इसने यंत्रों द्वारा, उर्वरकों द्वारा और सुधरे बीजों और नस्लों द्वारा

प्रति एकड़ उत्पादन में वृद्धि की है और प्रतिघंटे के हिसाब से श्रम की उत्पादकता बढ़ाई है। यह तो हुआ विज्ञान का सीधा प्रभाव। लेकिन एक और भी प्रभाव है जो कम से कम वर्तमान मे और भी महत्व का है। यातायात के साधनों में सुधार होने से अब यह संभव हो गया है कि एक भाग में खाद्य सामग्री प्रचुर मात्रा में पैदा की जाय और दूसरे भाग में कच्चे माल का या औद्योगिक सामग्री का उत्पादन किया जाय। इसी कारण यह भी संभव हो गया है कि कम खाद्य सामग्री के होते हुए भी किसी क्षेत्र में बहुत बड़ी जन संख्या जीवन यापन कर सके। हम ऐसे समय की कल्पना करें जब कि विभिन्न देशों के बीच मनुष्यों और वस्तुओं की आवागमन सम्बन्धी सब बाधायें दूर हो गयी हों। तब यह आवश्यक होगा कि पृथ्वी में इतना अन्न पैदा हो जो सम्पूर्ण जन संख्या के लिए पर्याप्त हो। एक शर्त भी रहेगी कि जिन क्षेत्रों मे अन्न का उत्पादन कम होता हो उनके उद्योग ऐसी वस्तुएँ तैयार करें जिसे अन्न वाले क्षेत्र अनाज के बदले स्वेच्छा से स्वीकार करें। लेकिन अभाव के दिनों में इस शर्त का पालन होना असम्भव है। प्रथम महायुद्ध के बाद रूसी किसानों के पास केवल इतना अन्न-भाण्डार था कि उससे उनका ही काम चलता। उस अनाज को वे किसी भी वस्तु के बदले देने को तैयार न थे। उस समय और चतुर्थ दशक में जब भयानक दुर्भिक्ष पड़ा नागरिकों को सेना की सहायता से जीवित रखा गया जब कि देहातों में करोड़ों किसान भूख से काल कवलित हुए। अगर शासन ने उदासीनता दिखाई होती तो नगर निवासियों का भी बड़ी संख्या में क्षय होता।

इन घटनाओं से एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष, जिसकी प्रायः उपेक्षा की गयी है, निकाला जा सकता है कि उद्योगों को कृषि का सहायक होना चाहिए। ऐसा न हो तो उद्योगों की वस्तुएँ विलासिता की ही वस्तुएँ बन कर रह जाती हैं। दुर्भिक्ष के समय इन वस्तुओं को कोई भी न खरीदेगा। कृषकों के विरुद्ध बल प्रयोग करके ही इन कारखानों के मजदूरों की जीवन-

रक्षा हो सकेगी। यह भी तभी संभव होगी जब अनेक कृषकों को मौत के मुँह में धकेल दिया जायेगा। अगर दुर्भिक्ष बार-बार आने लगे तो सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उद्योगों का ह्रास होगा। पिछले डेढ सौ वर्षों में जैसी औद्योगिक प्रगति हुई है वैसी फिर न हो सकेगी।

आप कहेंगे दुर्भिक्ष तो यदा कदा ही आते है और उनकी रोक थाम के लिए असाधारण उपाय काम में लाये जा सकते हैं। औद्योगिक विकास के सुनहले दिनों में इस कथन में अवश्य ही कुछ सचाई थी। लेकिन अगर जन संख्या इसी प्रकार बढ़ती रही तो यह सचाई नहीं टिक सकेगी। इस समय संसार की जनसंख्या ५८००० व्यक्ति प्रति दिन के हिसाब से बढ़ रही है। युद्धों ने भी इस वृद्धि को विशेष रूप से प्रभावित नहीं किया है। दो-दो महायुद्धों के बीच वृद्धि का यह क्रम बाधित नहीं हुआ। १९ वीं शताब्दी के अन्तिम पच्चीस वर्षों में वृद्धि की गति बहुत तेज रही लेकिन अब जन संख्या केवल अविकसित और निर्धन देशों में ही बढ रही है। इन देशों में चीन और भारत सबसे महत्वपूर्ण है और राजनीति मे रूस का महत्व बढ़ गया है। लेकिन मैं अभी यथासम्भव अपने वक्तव्य को प्राणि-वर्ग तक ही सीमित रखना चाहता हूँ।

अगर जन संख्या का विस्तार रोका नहीं गया तो इसके क्या अवश्यम्भावी परिणाम होंगे? एक परिणाम तो यही होगा कि आज जो देश समृद्ध कहलाते हैं उनका जीवन स्तर गिरेगा। जीवन-स्तर के गिरने से औद्योगिक वस्तुओं की माँग बहुत घटेगी। डैट्रौइट में तब निजी कारों का उत्पादन बन्द हो जाएगा और केवल लौरियाँ ही वहाँ बनेंगी। किताब, पियोना, घड़ियाँ, दुर्लभ विलासिता की वस्तुएँ समझी जाने लगेंगी जिन्हें केवल कुछ विशिष्ट व्यक्ति ही उपयोग में ला सकेंगे। विशिष्ट व्यक्तियों में भी जिनके हाथ में सेना और पुलिस का नियन्त्रण होगा उन्हे ये प्राप्त होंगी। अन्त में सर्वत्र समान रूप से दुःख और दैन्य में सब साझीदार बनेंगे। और माल्थुस के सिद्धान्तों का सर्वत्र दर्शन हो सकेगा। यान्त्रिक

विकास के कारण जब पृथ्वी का समीकरण हो जाएगा तो कृषि में अधिक उत्पादन होने पर संसार की जनसंख्या में वृद्धि होगी और दुर्भिक्ष की स्थिति में भुखमरी के कारण जन संख्या की हानि होगी। आधुनिक काल के अनेक नगर जो उद्योगों के केन्द्र बने हुए हैं नष्ट हो जाएँगे और वहाँ के नागरिकों को अपने मध्यकालीन पूर्वजों की तरह कष्ट का जीवन बिताना पड़ेगा। संसार में नये ढंग से फिर स्थिरता आयेगी लेकिन उसके लिए अनेक मूल्यवान वस्तुओं का बलिदान करना पड़ेगा।

क्या संख्या का इतना महत्व है कि उसके लिए हम शान्ति के साथ इस प्रकार की विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न होने दें? नही, कदापि नहीं। तब हमे क्या करना चाहिए? इतना तो स्पष्ट ही है कि कतिपय पूर्वग्रहों को जिन्होंने गहरी जड़ें जमा रखी है छोड़ना पड़ेगा। जिन राष्ट्रों में तेजी से जन संख्या बढ़ रही है उन्हें भी संख्या घटाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। पश्चिम के देशों की भाँति वे भी उन्हीं उपायों का अवलम्बन करें जिनसे जन संख्या की वृद्धि उन देशों मे रुकी है। शिक्षा द्वारा, प्रचार द्वारा और सरकार की सहायता से एक पीढ़ी के अन्दर अभीष्ट परिणाम प्राप्त हो सकता है। किन्तु दो प्रबल बाधाएँ इस नीति के विरुद्ध काम करेंगी—धर्म तथा राष्ट्रीयता। जो लोग वास्तविकता को समझते है और समस्या का सामना कर सकते है उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि सन्तति निरोध के विरुद्ध चलने वाले अभियान को असफल बनावें। नहीं तो आगामी पचास वर्षों के ही भीतर मानव जाति के कष्टों की सीमा न रहेगी।

मैं यह तो कहने की धृष्टता नहीं करता कि जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए सन्तति निरोध ही एकमात्र उपाय है। दूसरे भी उपाय हैं जिन्हें शायद सन्तति निरोध के विरोधी भी स्वीकार करेंगे। युद्ध ने तो जैसा मैं ऊपर कह चुका हूँ जन संख्या को रोकने में विशेष सहायता नहीं पहुँचाई है। जीवाणु युद्ध सम्भवतः अधिक प्रभावी सिद्ध होंगे। प्रत्येक

पीढ़ी में यदि महामारी पृथ्वी पर फैलाई जा सके तो मैं समझता हूँ कि बचे हुए लोगों को जनसंख्या की वृद्धि से रोकने की आवश्यकता न पड़ेगी। यह ऐसा सुझाव है जिससे न तो धार्मिक व्यक्तियों के अन्तःकरण क्षुब्ध होंगे और न राष्ट्रवादियों की आकांक्षाएँ बाधित होंगी। उपाय अप्रीतिकर है, पर इससे क्या ? उच्च विचार वाले पुरुष प्रायः ही सुख के प्रति उदासीन रहते हैं विशेष कर दूसरों के सुख के प्रति। किन्तु मैं स्थिरता के अपने प्रश्न से भटकता जा रहा हूँ और इसलिए मैं उसकी ओर लौटता हूँ।

जन संख्या की दृष्टि से किसी भी समाज को स्थिर बनाने के तीन उपाय हैं। प्रथम उपाय है सन्तति निरोध, दूसरा है बाल-हत्या या अत्यन्त विनाशकारी युद्ध और तीसरा है एक शक्ति-शाली, एक अल्प संख्यक वर्ग को छोड़ साधारण जनता के लिए दुःख और दैन्य का जीवन। इन तीनों उपायों का विभिन्न जातियों ने उपयोग भी किया है। प्रथम का उपयोग औस्ट्रेलिया की आदिम जातियों ने किया। दूसरे उपाय का अवलम्बन एजटेकों ने, स्पार्टा के नागरिकों ने और प्लेटो के गणराज्य के शासकों ने किया। तीसरे उपाय का परीक्षण अन्ताराष्ट्रिय कहलाने वाले कुछ पाश्चात्य देशों में किया गया जो पृथ्वी को अपने आदर्शों के अनुरूप ढालना चाहते हैं। सोवियत रूस में भी इसे आजमाया गया है। ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती कि भारतीय या चीनी जनता भुखमरी पसन्द करती है लेकिन उन्हें इसे सहना पड़ता है क्योंकि पश्चिमी देशों के शस्त्रास्त्रों के सामने वे असहाय है। इन तीनों उपायों मे सन्तति निरोध का ही उपाय ऐसा है जिसमे अधिक क्रूरता नहीं होती और न अधिकांश मनुष्यों के लिए दुःखमय जीवन की विवशता ही होती है। जब तक पृथ्वी पर एक सार्वभौम शासन की स्थापना नहीं होती विभिन्न राष्ट्रों के बीच शक्ति के लिए प्रतिद्वन्द्विता होना अवश्यम्भावी है।

चूँकि जन संख्या की वृद्धि से दुर्भिक्ष को आशंका होती है, इसलिए भुखमरी से बचने का एक मात्र उपाय राष्ट्रीय शक्ति के विस्तार में दिखाई

देगा। इस प्रकार विभिन्न राष्ट्रों के अलग-अलग संगठन बनेंगे जिनमें बुभुक्षित देश और परितुष्ट देश एक दूसरे के विरुद्ध मोर्चे सँभालेंगे। चीन में समाजवाद की सफलता का रहस्य इसी में छिपा हुआ है।

ये सब विचार एक ही निष्कर्ष की ओर ले जाते हैं कि विज्ञान पर आधारित समाज तब तक स्थिर नहीं हो सकता जब तक विश्व सरकार की स्थापना नहीं हो जाती।

ऐसा भी तर्क पेश किया जा सकता है कि यह निष्कर्ष बिना सोचे समझे निकाला गया है। अभी तक जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर इतना ही कह सकते हैं कि जब तक एक सार्वभौम सरकार द्वारा विश्वभर के लिए सन्तति निरोध का कार्यक्रम नहीं अपनाया जाता, तब तक समय-समय पर महायुद्ध होते ही रहेंगे। और इन महायुद्धों में पराजय का दण्ड भुखमरी से उत्पन्न व्यापक मृत्यु के रूप में भोगना पड़ेगा। यह आज की स्थिति है। कुछ लोगों के मत में यह स्थिति सैकड़ों वर्ष तक बनी रह सकती है और इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं। अपनी ओर से मैं इतना ही कहूँगा कि मैं स्वयं ऐसा विश्वास करने में असमर्थ हूँ। जो दो महायुद्ध हो चुके हैं और जिनका हम अनुभव प्राप्त कर चुके हैं उन्होंने पृथ्वी के अनेक भागों में सभ्यता के स्तर को नीचे गिराया है। आगामी तृतीय युद्ध निश्चय ही इसे और भी गिरायेगा। जब तक कोई एक शक्ति या शक्तियों का संगठन विजयी होकर सम्पूर्ण सेनाओं पर अधिकार कर विश्व अधिकरण की स्थापना नहीं करता, यह निर्विवाद सत्य है कि सभ्यता का स्तर निरन्तर गिरता ही जाएगा। और यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक कि वैज्ञानिक युद्धों का ही अन्त नहीं हो जाता अर्थात् जब तक विज्ञान का ही अन्त नहीं हो जाता। एक बार फिर धनुष-बाण वाले युग के लौटने पर मनुष्य को सांस लेने की मुहलत मिलेगी और फिर उसी टेढ़े-मेढे रास्ते से एक बार फिर उसी के दुःखद अन्त के लिए उसके प्रयत्न शुरू होंगे।

डार्विन के सिद्धान्तों के आधार पर ही इतना तो स्पष्ट है कि जन संख्या

की समस्या का मानवीय हल निकलने पर विश्व-सरकार की स्थापना की आवश्यकता सिद्ध हो जाती है। यदि संसार का विभाजन अधिक जन संख्या वाले और स्थिर जन संख्या वाले दो वर्गों में हो जाय तो निश्चय ही कुछ वर्ष बाद बहुसंख्यक वर्ग अधिक प्रभावशाली बनेगा। विजय के उपरांत वह विजितों को खाद्यान्न देने मे कमी करेगा और अन्न के अभाव में अनेकों व्यक्ति मृत्यु के ग्रास बनेंगे। सम्पूर्ण मानवता के दृष्टिकोण से देखें तो उन जातियों की विजय बार-बार होती ही रहेगी जिनकी जनसंख्या तेजी से बढ़ती होगी। यह पुराने संघर्ष का ही नया रूप है। विज्ञान द्वारा दी हुई विनाश की शक्तियों के विद्यमान रहने पर समाज की स्थिरता असम्भव ही है।

मनोवैज्ञानिक कारण

विज्ञान पर आधारित समाज की स्थिरता पर विचार करने में मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का भी बड़ा महत्व है। उनका महत्व भौतिक और जैविक परिस्थितियों से किसी प्रकार कम नहीं है। लेकिन उनपर विचार करना अपेक्षाकृत कठिन है क्योंकि उन दोनों की तुलना में मनोविज्ञान अभी करीब करीब अविकसित ही है। फिर भी हम उस पर यहाँ विचार करेंगे।

पुराना मनोविज्ञान कहता था कि अगर किसी व्यक्ति को इस बात का विश्वास दिलाया जा सके कि किसी विशेष रीति से यदि उसने कार्य किया तो दुर्भाग्य उसे आ घेरेगा तो निश्चय ही वह उस रीतिविशेष को छोड़ देगा। जिस मार्ग से वह जानेवाला था उससे हट जायेगा। दूसरी एक और भी मान्यता मनोविज्ञान की थी। वह यह कि कुछ ही व्यक्तियों को छोड़ अधिकांश के मन में जीवित रहने की प्रबल इच्छा होती है। बेन्थम का कहना था कि अधिकांश लोग अपने हितों को सर्वोपरि रखते हुए साधारण रूप से बुद्धिमानी बरतते हुए अपने अपने मार्ग पर अनुकरण करते हैं। इस कथन की प्रामाणिकता को आधुनिक मनोविज्ञान ने सन्दिग्ध बना दिया है और पुराने विचारों का प्रभाव अब जानकार लोगों पर उतना

नहीं रहा है। लेकिन अभी तक सामाजिक समस्याओं में मनोविज्ञान की आधुनिक खोजों का बहुत कम उपयोग हुआ है, विशेष कर उन लोगों द्वारा जिनका राजनीति से सम्बन्ध है। मै संकोच के साथ इस सम्बन्ध में कुछ कहने का प्रयत्न करूंगा।

उदाहरण के रूप मे हम इसी समस्या को लें—तीसरे महायुद्ध की ओर हमारी जाने अनजाने प्रगति। मान लो आप एक सामान्य व्यक्ति से इस सम्बन्ध में बात-चीत कर रहे है। सामान्य से तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जो प्रसन्नचित्त है, राजनीति मे जिसे विशेष दिलचस्पी नहीं है तथा जो एक समझदार बुद्धिमान व्यक्ति है। इन विशेष पहलुओं पर आप उसका ध्यान आकृष्ट करते हैं—परमाणु वमों की क्षमता, रूस द्वारा पश्चिमी यूरोप की पराजय होने पर जन साधारण की विपत्तियों में वृद्धि, पाश्चात्य संस्कृति का विनाश, निर्धनता, सैन्यीकरण से होने वाली हानियाँ इत्यादि। आपकी प्रत्येक बात वह स्वीकार करता है लेकिन आप जिस प्रतिक्रिया की आशा करते थे वैसी नहीं होती। आपकी बातों से उसे रोमांच हो आता है लेकिन वह उससे भयभीत नहीं होता। उसे तो जैसे इस रोमहर्षक वर्णन में आनन्द मिल रहा हो। आप उसे फिर समझाने की कोशिश करते हैं कि तमाम जीवन कितना अस्त-व्यस्त हो जायेगा। लेकिन उस पर कुछ भी असर नहीं दिखाई देता। वह तर्क करने लगता है—अस्त व्यस्त हो जाय तो अच्छा ही तो है। रोज रोज सुबह उठ कर दफ्तर तो नहीं जाना पड़ेगा। आप उसे फिर समझाते हैं कि तीसरे महायुद्ध में नागरिकों की कितनी भीषण क्षति होगी। वह स्वीकार करता है और सिहर भी उठता है लेकिन उसके मस्तिष्क की भीतरी सतह पर विशेष प्रभाव नहीं होता। उसका अवचेतन मन जैसे इस तृतीय युद्ध को अपने लिए मुक्ति देने वाला मान रहा हो। तीसरे युद्ध से जहाँ एक ओर अनेक परेशानियाँ आएँगी उससे कुछ लाभ भी होंगे फिर युद्धों से भयभीत होना भी तो कायरता है। मनोविज्ञन की दृष्टि में यह रुग्ण मनोवृत्ति की परिचायक है और इसने सर्व-

व्यापी होकर आसन जमा लिया है। राजनीति के क्षेत्र में तो क्रोध और तटस्थता ये दो खतरनाक विकृतियाँ सर्वत्र दिखाई देती है। क्रोध का ज्वलन्त उदाहरण हमें नाजियों की मानसिक दशा मे दिखाई देता है। तटस्थता या उदासीनता का उदाहरण हमें फ्रांसीसी राष्ट्र में द्वितीय महायुद्ध के समय दिखाई दिया था। अपनी उदासीनता के कारण ही फ्रान्स जर्मनों का प्रतिकार नहीं कर सका और कहीं कहीं तो प्रतिकार की इच्छा का ही अभाव हो गया था। कुछ कम उग्र रूप में ये दोनों विकृतियाँ दूसरे देशों मे भी पाई जाती है। मेरा खयाल है कि औद्योगिकी के साथ जो कठिन अनुशासन आता है उसी से ये भी जुड़ी हुई हैं। क्रोध के कारण ही राष्ट्र ऐसे कार्य प्रारम्भ कर देते है जो निश्चित रूप से उन्हें ही हानि पहुँचाते है। उदासीनता ऐसा रोग है जिसके परिणाम स्वरूप राष्ट्र अपने ऊपर आनेवाले संकटों से बचने की भी चिन्ता नहीं करते। प्रायः ही वे सभी प्रकार के उत्साह के कार्यों मे अनिच्छा प्रकट करते दिखाई देते है। इन दोनों विकृतियों की जड़ें गहरी चली गई है। मनुष्य की प्रवृत्तियों और उसके रहन-सहन के ढंग के बीच जो असामञ्जस्य उत्पन्न हो गया है उसी का यह परिणाम है।

इस रोग का एक कारण है नैतिक परिस्थितियों में तेजी से होने वाले परिवर्तन। असभ्य जातियों को जब सहसा उठाकर यूरोप के अनुशासित जीवन की परिस्थितियों मे रखा गया तो देखा गया कि अनेक बार उनकी मृत्यु हो गयी। विभिन्न जीवन प्रणाली के अभ्यस्त होने के कारण वे यूरोप के जीवन को अंगीकार करने मे सर्वथा असमर्थ थे। १९२१ में मैं जापान में था। जिन जापानियों से भी मेरी बातचीत होती मुझे लगता मानो वे स्नायविक तनाव का अनुभव कर रहे है। इतना अधिक तनाव उन्माद की वृद्धि में सहायक होता है। जापान के जन-मानस में बहुत गहराई में घुसी हुई आकांक्षायें पुराने जापानी जीवन के अनुकूल थीं। नये जापान के नागरिक, विशेष कर शहरों में रहने वाले लोग, अमेरिका का

अधाधुन्ध अनुकरण कर रहे थे। चेतन और अवचेतन के बीच का यह असामंजस्य निराशा, उदासीनता या क्रोध को ही उत्पन्न कर सकता था। जिन देशों में तेजी से औद्योगिक प्रगति होती है वहाँ जीवन में इसी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न होता है। रूस में भी अत्यन्त उग्रता के साथ यह उत्पन्न हुआ होगा।

लेकिन हमारे देश में भी, जहाँ औद्योगिक विकास नया नहीं है, इतनी तेजी से परिवर्तन होते है कि मनोवैज्ञानिक उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं। जरा विचार तो करिये मेरे अपने ही जीवन काल में क्या-क्या परिवर्तन हो गये है ! जब मैं बच्चा था, टेलीफोन का आविष्कार नया ही था और कभी-कभी ही उसके दर्शन होते थे। जब मैंने अपनी पहिली अमेरिका यात्रा की थी तो एक भी मोटरकार मेरे देखने में नहीं आयी थी। जब मेरी अवस्था उनतालीस वर्ष की थी तब मैने पहिले पहल वायुयान देखा था। रेडियो और प्रसारण ने आज के युवकों के जीवन को कितना अधिक बदल दिया है। मेरी युवावस्था मे यह सब कुछ नही था। जब मुझे थोड़ी सी सामाजिक और राजनीतिक जीवन की चेतना हुई तो देखा डिजरायली और ग्लैडस्टन ब्रिटेन की विक्टोरिया युग की ठोस परम्पराओं के बीच एक दूसरे के विरुद्ध ताल ठोक खड़े होते थे। ब्रिटेन का साम्राज्य सदा के लिए स्थायी माना जाता था। ब्रिटेन की सामुद्रिक शक्ति को कोई चुनौती दे सके इसकी कल्पना भी नहीं की जाती थी। देश में कुलीन वर्ग का बोलबाला था, उसमें धन सम्पत्ति की प्रचुरता थी, और इसमें दिनों दिन वृद्धि होती दिखाई देती थी। साम्यवाद को मूर्खता का पर्यायवाची माना जाता था और यह मूर्खता भी कुछ असन्तुष्ट और बदनाम विदेशियों तक ही सीमित थी।

एक वृद्ध व्यक्ति के लिए, जिसके जीवन की इस प्रकार की पृष्ठभूमि रही हो, आज के परमाणु बम, समाजवाद और अमरीकी प्रभुता के संसार में मानसिक शान्ति पा सकना कितना कठिन है। प्राचीन युग में जिस राजनीतिक सूझ-बूझ को जीवन के लिए सहायक समझा जाता था आज वह

परिवर्तित परिस्थितियों में बाधा स्वरूप हो गया है। जिस प्रकार के अनुभव के संचय के कारण उस जमाने मे वृद्ध पुरुषों की इज्जत होती थी आज उसका मूल्य नहीं रह गया है और न उस प्रकार का अनुभव प्राप्त करना ही संभव रह गया है। आज तो बड़ी तेज रफ्तार से हमें अनुभवों की प्राप्ति होती है और उसी तेज रफ्तार से कुछ ही समय बाद वे अतीत की वस्तु बन जाते हैं। विज्ञान ने यद्यपि बाह्य परिस्थितियों में भारी परिवर्तन कर दिया है, मनोवैज्ञानिक संसार में भी उसी गति से परिवर्तन करने का कार्य उसे नहीं मिल पाया है। विशेष कर अचेतन और अवचेतन मानसिक स्तर विज्ञान से अधिक प्रभावित नहीं हुए है। बहुत ही कम लोग ऐसे होंगे जो बाल्यकाल की परिस्थितियों को छोड़ किन्हीं अन्य परिस्थितियों में सच्चे सुख का अनुभव करते है।

तेज गति से होने वाले ये परिवर्तन मनोवैज्ञानिक असन्तोष के अनेक कारणों मे केवल एक कारण है। दूसरा कारण जो संभवतः और भी प्रबल है वह है विभिन्न संगठनों के आगे व्यक्ति की निरंतर बढती हुई पराधीनता। विज्ञानाश्रित समाज का यह अपरिहार्य अंग हो गया है। एक कारखाने मे जिसमें कि बहुत ही कीमती संयन्त्र लगा हो और जिसका चलाया जाना अनेक व्यक्तियों के संगठित श्रम पर निर्भर करता हो श्रमिकों की इच्छाओं और उद्वेगों को नियन्त्रण मे रखना होगा। केवल उन्हीं लोगों को स्वतन्त्रता दी जा सकती है जो कारखाने के प्रबन्धक अधिकारी हों। श्रम के घंटों के बीच किसी प्रकार के आलस्य, प्रमाद या दुस्साहस के कार्यों के लिए गुञ्जाइश नही हो सकती। श्रम के घण्टों के बाद भी अधिकांश व्यक्तियों के जीवन में इस प्रकार के अवसर बहुत ही कम आते है। घर से कारखाने तक और फिर कारखाने से घर तक आने-जाने मे ही सारा समय लग जाता है। दिन के अन्त मे किसी सनसनीखेज अनुभव के लिए न तो उनके पास धन ही रहता है और न समय ही। जो बात कारखाने के श्रमिकों के लिए लागू होती है, वही न्यूनाधिक मात्रा में आधुनिक काल में किसी भी सुसंगठित

समाज के लिए लागू होती है। अधिकांश व्यक्ति युवावस्था को पार करते ही अपने को ऐसी उलझन भरी स्थिति में पाते हैं जिसकी झलक इस व्यंग-भरी कविता की पंक्ति में मिलती है—'बस नहीं, बस नहीं, मिली है ट्राम।' उत्साही व्यक्ति ऐसी स्थिति में विद्रोह से भर जाते हैं। और शान्त व्यक्ति उदासीन हो जाते हैं। तब कहीं यदि युद्ध उपस्थित हो जाय तो मानो चैन की साँस लेने की मुहलत मिल जाती है। मैं आज एक महत्त्व का प्रश्न पूछता हूँ और चाहूँगा कि उस पर जनमत संग्रह हो। प्रश्न है क्या आप आज अधिक सुखी हैं या युद्ध के समय आप अधिक सुखी थे? यह प्रश्न स्त्रियों और पुरुषों से सभी से पूछना होगा। मेरा अनुमान है कि जनमत संग्रह मे बहुत बड़ी संख्या मे लोग यही कहेंगे कि वे युद्ध काल में आज की अपेक्षा कहीं अधिक सुखी थे।

यह वस्तु-स्थिति एक ऐसी मनोवैज्ञानिक समस्या उपस्थित करती है जिस पर राजनीतिज्ञों ने विचार ही नहीं किया है। शान्ति के लिए योजनाओं का निर्माण करना ही व्यर्थ है जब कि अधिकांश लोग इसकी रक्षा ही नहीं करना चाहते। चूंकि वे इस बात को स्वीकार ही नहीं करते और सम्भवतः जानते भी नही कि वे युद्ध को अधिक पसन्द करेंगे, उनका अवचेतन मन उन्हे ऐसी आकर्षक योजनाओं को पसन्द करने के लिए प्रेरित करेगा जिनका स्पष्ट उद्देश्य शायद ही प्राप्त हो।

समस्या की कठिनाई का कारण यह है कि आज के सामाजिक जीवन का अत्यधिक जैविक रूप हो गया है जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति दूसरों पर निर्भर हो गया है। इतनी निर्भरता औद्योगिक युग के पूर्व कभी नहीं थी। इसीलिए यह आवश्यक हो गया है कि पूर्वकाल की अपेक्षा आज भावनाओं को नियन्त्रण में रखा जाय। लेकिन इतना भी नियन्त्रित नहीं करना चाहिए कि वह खतरनाक बन जाय। तब तो वह विनाशकारी कृत्य, निर्ममता, उत्पीड़न और विद्रोह के रूप में प्रकट होता है। यदि हम चाहते हैं कि जनता क्रोध से भड़क कर अपनी ही कृतियों को नष्ट भ्रष्ट न करे तो

अवश्य ही ऐसे उपाय ढूँढने होंगे जिनसे प्रत्येक व्यक्ति को आज की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता के अवसर प्राप्त हों। कोई भी समाज तब तक स्थिर नहीं कहा जा सकता जब तक कि, जिनके हाथ में शासन है वे सन्तुष्ट न हों और सफल विद्रोह का संकट उन्हें भयभीत करता रहे। लेकिन उस अवस्था में भी समाज स्थिर नहीं कहा जा सकता जब कि सत्ता के सूत्र धारण करने वाले हिटलर और कैसर सरीखे व्यक्ति दुस्साहसिक कार्यों की ओर प्रवृत्त होते रहें। मनोवैज्ञानिक समस्या की ये दो खतरनाक चट्टानें हैं जिनके बीच से जहाज को निकाल ले जाना आसान काम नहीं है। साहसिक कार्य तो अच्छे हैं लेकिन ऐसे साहसिक कार्यों से जो विनाशकारी आवेशों से प्रभावित हों सावधान ही रहना होगा।

उपसंहार

अब हम अपनी छानबीन के अन्त में जिन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं उन पर फिर एक नजर डालें। विज्ञानाश्रित समाज को यदि जीवित और स्थायी रहना हो तो कुछ शर्तों को पूरा करना होगा। सबसे प्रथम शर्त है भौतिक सन्दर्भ में इसके स्थायित्व की समस्या। भूमि और कच्चे पदार्थों का हमें इतनी तेज रफ्तार से अपव्यय रोकना होगा और तब तक जब तक कि विज्ञान की नई खोजों द्वारा इस कमी की पूर्ति न हो जाय हमें समझदारी से इन्हें खर्च करना होगा। विज्ञान की प्रगति सामाजिक प्रगति के लिए ही एक आवश्यक शर्त नहीं है इसके द्वारा समृद्धि के उस स्तर को भी बनाये रखना आवश्यक है जो अब तक प्राप्त किया जा चुका है। अगर तकनीक में परिवर्तन नहीं हुआ तो निश्चय ही कुछ समय बाद वह कच्चा माल समाप्त हो जाएगा जिसकी उसे आवश्यकता है। अगर खनिज और प्राकृतिक सम्पदा को जल्दी ही समाप्त नहीं करना है तो उनकी प्राप्ति और उपयोग के लिए खुली छूट नहीं होनी चाहिए। एक अन्ताराष्ट्रिय प्राधिकरण द्वारा इस सम्पदा का वितरण होना चाहिए और इसे उतनी मात्रा में राष्ट्रों को प्रदान करना चाहिए जो समयानुसार औद्योगिक विकास

की प्रगति के अनुरूप ह। भूमि के उपयोग के सम्बन्ध में भी इसी तरह की सावधानी बरतनी होगी।

दूसरी महत्वपूर्ण शर्त जनसंख्या के सन्दर्भ मे है। अगर भोजन की निरन्तर बढती हुई कमी पर काबू पाना है तो कृषि के अपव्ययी तरीके छोड़ने होंगे। जनसंख्या में भी इतनी अधिक वृद्धि न होनी चाहिए कि खाद्यान्न की वृद्धि उससे पीछे ही रह जाए। आज तो दोनों मे एक भी शर्त पूरी नहीं हो रही है। संसार की जनसंख्या बढ रही है लेकिन पृथ्वी की खाद्यान्न उपजाने की क्षमता घटती जा रही है इस प्रकार की हालत बगैर उथल पुथल मचाये, स्पष्ट ही अधिक दिनों तक नहीं चल सकती।

इस समस्या से निपटने के लिए संसार की जन संख्या की वृद्धि रोकने के उपाय खोजने होंगे। अगर यह कार्य युद्ध, उपद्रव, संक्रामक रोग, दुर्भिक्ष आदि की सहायता के बिना करना हो तो एक शक्तिशाली अन्ताराष्ट्रिय, प्राधिकरण की आवश्यकता होगी। यह प्राधिकरण स्थापना होतेही विभिन्न राष्ट्रों में उनकी जनसंख्या के अनुपात मे खाद्यान्न वितरण करेगा। इसके पश्चात् किसी भी राष्ट्र को जनसंख्या बढ़ने पर अतिरिक्त खाद्यान्न की मात्रा नहीं मिल सकेगी यह उपाय जनसंख्या की वृद्धि को रोकने में प्रभावी सिद्ध होगा। जनसंख्या की वृद्धि किस उपाय से रोकी जाय इसका निर्णय राष्ट्रों पर ही छोड़ देना होगा।

यद्यपि यह समस्या का तर्कसंगत हल मालूम पड़ता है लेकिन इस समय तो यह स्पष्ट ही अव्यवहार्य दिखाई देता है। एक शक्तिशाली अन्ताराष्ट्रिय प्राधिकरण का निर्माण ही स्वयम् में एक जटिल समस्या है और उसे यदि इस प्रकार के अप्रिय कार्यों का दायित्व सौंपा जायेगा तो उसका निर्माण और भी कठिन हो जायेगा। इस समय भी वास्तव में दो परस्पर विरोधी कठिनाइयाँ उपस्थित हैं। आज यदि संसार के खाद्यान्न का समान वितरण किया गया तो पाश्चात्य राष्ट्रों को विशेष कष्ट का अनुभव होगा और उन गरीब अविकसित राष्ट्रों को भी जिनकी जन संख्या तेज़ी से बढ़ रही है

खाद्यान्न का अंश स्थायी रूप से निश्चित हो जाने पर असहनीय कष्ट होंगे। इसलिए आज की परिस्थितियों में सभी देश इस तर्कसंगत समाधान का विरोध ही करेंगे। दूरस्थ भविष्य को देखते हुए यह अनुमान लगाना भी असंगत नहीं है कि समय आने पर इस समस्या का हल निकल ही आएगा। समृद्ध उद्योग-प्रधान देशों में जन्म संख्या के अंक बहुत कम हो गए हैं। पाश्चात्य देशों की जनगणना में तो एक प्रकार का स्थायित्व दिखाई देने लगा है। जब पूर्व के राष्ट्र भी पश्चिम के समान ही समृद्ध और उद्योग-प्रधान बन जायँगे तो जनसंख्या की वृद्धि की गति पर्याप्त रूप से धीमी होगी। तब यह एक असाध्य समस्या नहीं रहेगी। वर्तमान में रूस चीन और भारत जन संख्या की वृद्धि और गरीबी के तीन अक्षय स्रोत बने हुए हैं। यदि इन देशों की समृद्धि का स्तर आज के अमरीकी स्तर के समकक्ष आ जाय तो उनकी अतिरिक्त जन संख्या संसार के कष्टों का कारण न बनेगी।

सामान्य रूप में हम कह सकते हैं कि जहाँ तक जन संख्या की समस्या का सम्बन्ध है, यदि आज के अमेरिका की समृद्धि का स्तर सर्वत्र प्राप्त हो जाय तो विज्ञानाश्रित समाज में स्थिरता रह सकती है। प्रश्न यह है कि पहिले से ही जन संख्या की वृद्धि रोके बिना कैसे यह आर्थिक समृद्धि प्राप्त की जाय ? आज की परिस्थितियों में बिना भारी उथल-पुथल के यह संभव नहीं है। केवल शासकीय स्तर पर अत्यधिक और अबाध प्रचार द्वारा ही एशिया महाद्वीप के जैविक स्वभाव को बदला जा सकता है। लेकिन इसमें सन्देह है कि अधिकांश एशियाई शासन, युद्ध में पराजित हुए बगैर इसके लिए अपनी स्वीकृति देंगे। इस प्रकार के स्वभाव परिवर्तन के बगैर एशिया के राष्ट्रों की समृद्धि लगभग असंभव ही है। हाँ एक उपाय है—एशियाई राष्ट्र पश्चिमी देशों को पराजित कर, उनकी आबादी के अधिकांश भाग को नष्ट कर, उनके द्वारा अधिकृत भूमिभाग पर स्वयं अधिकार कर लें और अपने नागरिकों को वहाँ बसाने लगें। पश्चिमी देशों के लिए यह सुखद कल्पना नहीं हो सकती, मगर यह निराधार कल्पना नहीं है। ऐसा

कभी हो सकता है। आज समस्या तर्कहीन आवेशों और भ्रामक विश्वासों और प्रत्ययों के कारण इतनी उलझी हुई लगती है कि शायद ही कुछ उच्च-शिक्षित चिन्तन का अत्यल्प भाग इस पर विवेक पूर्ण चिन्तन करने को तैयार होगा। यही सबसे बड़ी निराशा की बात है।

हम अन्त में स्थिरता के प्रश्न को मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ में देखेंगे। यह तो सभी मान लेंगे कि आर्थिक समृद्धि के उच्च स्तर की प्राप्ति होने पर विज्ञानाश्रित समाज स्थिर हो सकता है। इस समृद्धि के मिलने पर पूरे वेतन पर लम्बी-लम्बी छुट्टियाँ दे सकना संभव हो सकेगा। जिन दिनों विदेशी मुद्रा पर रोक थी विश्वविद्यालयों और सार्वजनिक शालाओं के अध्यापक आल्पस पर्वतमालाओं में मृत्यु का सामना करते हुए अपने नीरस जीवन को सह्य बनाने का प्रयत्न करते थे। शान्ति को खतरा न होने पर, जनसंख्या की वृद्धि के नियत्रंण के बाद, यदि वैज्ञानिक प्रविधियों द्वारा उत्पादन होता रहा तो इस प्रकार के आनन्द सभी को उपलब्ध हो सकेंगे। संघीय शासन के विकेन्द्रित होने की भी तब आवश्यकता होगी। लगभग उस प्रकार की अर्द्ध स्वतंत्रता इकाइयों को प्राप्त होनी चाहिए जैसी ब्रिटेन के विश्वविद्यालयों को मिली हुई है। लेकिन मैं इस प्रश्न को लेकर अधिक विस्तार में न जाऊँगा। अपने रीथ भाषणों ने मैं 'प्राधिकरण और व्यक्ति' के सम्बन्धों में विचार कर चुका हूँ।

मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ वह यह है कि कुछ शर्तों के पूरा होने पर विज्ञानाश्रित समाज स्थिर रह सकता है। पहिली शर्त तो यही है कि पृथ्वी पर एक सार्वभौम शासन की स्थापना हो। इस शासन के नियंत्रण में सम्पूर्ण सैन्य शक्ति हो जिससे शान्ति की रक्षा की जा सके। दूसरी शर्त है कि सभी देशों में समृद्धि का समान ऊँचा स्तर हो जिससे राष्ट्रों के बीच विद्यमान द्वेष और ईर्ष्या का क्षय होगा। तीसरी शर्त जो दूसरी के आश्रित है वह यह कि सर्वत्र जनसंख्या की वृद्धि नियन्त्रित हो और पृथ्वी पर जन-संख्या की लगभग एक सी स्थिति बनी रहे। चौथी शर्त है कि व्यक्ति को

खेती के मैदान में और अपने कार्य क्षेत्र के भीतर अभिक्रम के लिए पर्याप्त अवसर मिलते रहें, और रांजनीतिक एवं आर्थिक संगठनों को नुकसान पहुँचाये बिना शक्ति का समान वितरण हो ।

इन शर्तों के पूरा होने में अभी हमें बहुत लम्बी प्रतीक्षा करनी होगी। इस बीच बड़ी उथल पुथल और हलचल होगी इससे भी इनकार नहीं कर सकते । अन्त में स्थिरता आयेगी ऐसा विश्वास कर सकते हैं। अभी तक तो संकट, कष्ट, भयानक उथल पुथल मनुष्य के इतिहास की विशेषता रहे हैं । लेकिन आज भविष्य की जो धूमिल झलक दिखाई देती है उससे लगता है एक दिन पृथ्वी से युद्धों का निष्कासन हो सकेगा और विपन्नता और भय से मानव की मुक्ति हो सकेगी। मंजिल अभी बहुत दूर है लेकिन आशा और उत्साह से हम आगे बढ़ सकते हैं ।

●